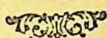
॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१५८



॥ श्रीः ॥

धम्मपदं

(मूल पालिपाठ, संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनुवाद, पाठान्तर, शब्दकोष और सविमर्श टिप्पणी सहित)

संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत भूमिका एवं शब्दकोश आदि

श्री कछेन्दीलाल गुप्त

एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), बी० टी०, विशारद

सम्पादक एवं टिप्पणीकार

श्री सत्कारिशर्मा वङ्गीय



चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी २२१००१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१५०

धम्मपदं

(मूल पालिपाठ, संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनुवाद, पाठान्तर, शब्दकोष और सविमर्श टिप्पणी सहित)

संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत भूमिका एवं शब्दकोश आदि
लेखक
श्री कन्छेदीलाल गुप्त
एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), बी० टी०, विशारद
सम्पादक एवं टिप्पणीकार
श्री सत्कारिशर्मा वङ्गीय





चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी २२१००१

तृतीय संस्करण १९८३

मूल्य १५–००

अन्य प्राप्तिस्थान—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

वाराणसी २२१००१

मुद्रक—

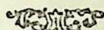
श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

150



DHAMMAPADAM

[Text in Pali, Sanskrit Rendering, Hindi Translation Introduction, Variants and Notes]

With

SANSKRIT RENDERING, HINDI TRANSLATION, INTRODUCTION AND GLOSSARY

By

Sri Kanchhedilal Gupta

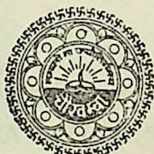
M. A. (Hindi & Sanskrit), B. T., Visharada

&

Edited with a Gloss

By

Sri Satkari Sharma Vangiya



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001

Third Edition
1983

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
K 37/117 Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

समर्पण

श्रद्धेय श्री० पुरुषोत्तमदास जी रावत

गाडरवारा (म० प्र०) निवासी

के

कर-कमलों में

सादर समर्पित ।

विनयावनत

कन्छेदीलाल गुप्त

गाडरवारा, म० प्र०

प्राक्कथन

जीवन में सद्गुणों की प्राप्ति, मोक्ष, निर्वाण या कैवल्य की प्राप्ति लगातार प्रयत्नों एवं प्रयोगों से होती है। एक जन्म में नहीं, दो जन्मों में नहीं, अनेक जन्मों तक प्रयत्न एवं प्रयोग से ही यह दुर्लभ मोक्ष प्राप्त होता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—'अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्'—अनेक जन्म के प्रयासों से ही परम गति को प्राप्त हो सकते हैं। स्वयं भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व—नर से नारायण बनने के पहले अनेक जन्म ग्रहण किये थे। प्रत्येक जन्म में ये प्रयत्न और प्रयोग करते गये और अन्त में बुद्धत्व प्राप्त कर सके।

भगवान् कृष्ण के उपदेश एवं भगवान् बुद्ध के स्वयं के विभिन्न जन्मों में प्रयास और तत्पश्चात् उपदेश साधारण मनुष्य को अत्यन्त प्रेरणादायक हैं। भगवान् बुद्ध ने जिन प्रयोगों को किया पश्चाद्वर्ती जीवन में उन्हीं का उन्होंने उपदेश दिया। Practise what you preach प्रचार के पहले उन्होंने स्वयं प्रयोग कर, सिद्धान्तों एवं साधनाओं को परख लिया था। तभी उन्होंने साधारण जनता के सामने उन साधनाओं को उपस्थित किया।

भगवान् बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्त एवं साधना-मार्गों का सरल एवं सुबोध विवरण धम्मपद में प्रस्तुत है। साधक के लिये—चाहे वह किसी धर्म का अनुयायी क्यों न हो, ये मार्ग, सदाचरण एवं नैतिकता-पूर्ण ये साधनायें निःसन्देह कल्याणकारिणी हैं।

धम्मपद की उपादेयता धार्मिक दृष्टि से तो है ही, भाषा की दृष्टि से भी है। पालिभाषा सीखने के लिये और तत्पश्चात् भाषा-विज्ञान और भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये धम्मपद संभवतः सब से सरल ग्रन्थ है। इसीलिये पालिभाषा तथा साहित्य एवं संस्कृत-भाषा तथा साहित्य में एम० ए० की परीक्षाओं में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में, जहाँ भी इन विषयों का अध्ययन अध्यापन होता है, धम्मपद का अध्ययन कराया जाता है।

मुझे भगवान् बुद्ध के पवित्र बचनों को राष्ट्र भाषा हिन्दी के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में अपार हर्ष है।

इस ग्रन्थ के निर्माण में मुझे सबसे अधिक सहायता अपनी कनिष्ठ पुत्री कुमारी सुशीला से प्राप्त हुई है। कुमारी सुशीला ने ही पारिभाषिक शब्दकोश आदि तैयार करने में बड़ी सहायता दी है। वह मेरे स्नेह एवं शुभाशीष की पात्री है।

मैंने द्रष्टव्य ग्रन्थों की सूची में दिए गये अंग्रेजी और हिन्दी के अनेक ग्रन्थों को बार-बार देखा है और उनका उपयोग किया है। एतदर्थ मैं उन ग्रन्थों के लेखकों के प्रति आदर पूर्वक अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ।

श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास जी रावत सुप्रसिद्ध रईस, विद्वान् एवं धर्मपरायण जनसेवी हैं। उनका विगत ३५ वर्षों से मुझ पर अगाध स्नेह है। आज भगवान् बुद्ध के महान् उपदेशामृत से पूर्ण ग्रन्थरत्न को उनके करकमलों में समर्पित करते हुये मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है।

मैं चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी के संचालक-वर्ग का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने श्री पं० सत्कारिशर्मा जी द्वारा इस ग्रन्थको पाठान्तर, टिप्पणी आदि से सर्वाङ्गपूर्ण कराकर प्रकाशित किया है।

अन्त में अपने पाठकों से निवेदन है कि इस संस्करण में जो त्रुटियाँ दिखलाई दें उन्हें कृपापूर्वक अवश्य बतलाने की कृपा करें।

गाडरवारा
श्रीबुद्ध जयन्ती
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा २०२३

कन्छेदीलाल गुप्त

सम्पादकीय निवेदन

सामग्रिक भारतीय संस्कृति के प्रेमियों के लिये बड़ी प्रसन्नता की बात यह है कि आज सामान्यतया बौद्धशास्त्र के प्रति और विशेषतया पालिवाङ्मय के प्रति भारतीय विद्वानों की रुचि बढ़ती जा रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्धसंस्कृति भारतीय संस्कृति का ही एक अङ्ग है, अतः बौद्धसाहित्य के यथोचित परिशीलन के बिना हमारा भारतीय संस्कृति का ज्ञान अधूरा ही रह जायगा। इतिहास से पता चलता है कि मुस्लिम आक्रमण के समय तक भारतवर्ष में बौद्धधर्मावलम्बियों की संख्या उल्लेखनीय थी, और नालन्दा, विक्रमशिला, उद्दण्डपुर आदि विभिन्न विद्याकेन्द्रों में बौद्धशास्त्र का पठन-पाठन बड़े उत्साह के साथ चला आ रहा था। किन्तु मुस्लिम आक्रपण के साथ ही साथ बौद्धधर्म अपनी मातृभूमि भारत से विलुप्त हो गया और यहाँ से बौद्धशास्त्र की परम्परा भी उच्छिन्न हो गई। किस कारण-परम्परा से यह दु:खद स्थिति उत्पन्न हुई इसका विवरण महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने 'बुद्धचर्या' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ की भूमिका में सप्रमाण प्रस्तुत किया है। नालन्दा आदि केन्द्रों के ध्वंस होने के पश्चात् भारतवर्ष में एक भी बौद्ध शास्त्र-ग्रन्थ नहीं बचा। जिन मूलग्रन्थों से चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में रूपान्तरित हो बौद्धशास्त्र उन देशों में प्रसारित हुआ था दुर्भाग्यवश उन मूल ग्रन्थों का अधिकांश भाग आज वहाँ भी अप्राप्य हो गया है। स्वतंत्र भारत के विद्वानों तथा राष्ट्रनायकों का कर्तव्य है कि वे उन ग्रन्थों के उद्धार के लिये हरसम्भव प्रयास करें। प्रातः स्मरणीय परम गुरुवर म० म० हरप्रसादशास्त्री तथा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के द्वारा उस प्रशंसनीय कार्य का श्रीगणेश मात्र हुआ था, किन्तु बहुत सी कठिनाइयों के कारण उस कार्य में आशानुरूप प्रगति नहीं हो पायी है।

सिंहल, बर्मा, स्याम, कम्बोज आदि देशों में स्थविरवादी बौद्धधर्म की परम्परा बहुत प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है। अतः उन देशों में प्रचलित और मागधी—या पालिनामक साहित्यिक प्राकृतभाषा में लिखित सुव्यवस्थित त्रिपिटक ग्रन्थ ही आज मुख्य माना जाता है।

यद्यपि पालित्रिपिटक ही मूल और अविकृत बुद्ध वचनों का संग्रह है ऐसा कहना जान-बूझ कर जिज्ञासुओं को भ्रम में डालना है, तथापि बौद्धशास्त्र के ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में पालि-त्रिपिटक अपना महत्त्व रखता है। इस शास्त्र की सम्पूर्णता अविच्छिन्न परम्परा इसका विशाल टीकासाहित्य और सुव्यवस्थित रूप इसके महत्त्व के द्योतक हैं। पालिभाषा संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बहुत निकट है अतः भारतीय विद्वद्वर्ग पालिभाषा के माध्यम से ही बौद्ध ग्रन्थों का अध्यापन अधिक पसन्द करते हैं।

पालि-त्रिपिटक के अन्तर्गत खुद्दक निकाय के द्वितीय ग्रन्थ धम्मपद का ई० १८५५ में डेनमार्क देशीय प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० फजबोल ने लातिन अनुवाद के साथ एक उत्तम संस्करण प्रकाशित किया। जिससे पाश्चात्त्य देशों में धम्मपद का बहुत ही समादर हुआ और अंग्रेजी फ्रान्सीसी, जर्मन आदि भाषाओं में भी इसके अनेक अनुवाद प्रकाशित हुये। भारत में भी बंगला, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह ग्रन्थ सर्वत्र असाम्प्रदायिक नैतिक उपादेशात्मक ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

यह ग्रन्थ केवल नैतिक तथा धार्मिक ग्रग्थ के रूप में ही नहीं बल्कि पालि-भाषा सीखने के श्रेष्ठ साधन के रूप में भी सर्वत्र परिचित है। इसीलिये यह सभी विश्वविद्यालयों गें परीक्षा-पाठ्य स्वीकृत भी है।

प्रस्तुत संस्करण की विशेषता

प्रस्तुत संस्करण की टिप्पणी में भाषावैज्ञानिक वैशिष्ट्य के ऊपर विशेष प्रकाश डाला गया है। प्रचलित प्राकृत व्याकरणों के आधार पर संस्कृतशब्दों से पालिशब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है हमारे विचार से तो पालिभाषा की प्रकृति को समझाने के लिए यही मार्ग सर्वोत्तम तथा विज्ञानसम्मत है। बौद्धदेशों में बहुत दिनों से पालिभाषा को संस्कृतनिरपेक्ष स्वतन्त्रभाषा की मान्यता दी गई है। अतः उस दृष्टिकोण से वहाँ अनेक व्याकरण भी रचे गये हैं, जिनमें कच्चायन, मोग्गल्लान आदि आचार्यों के द्वारा रचित व्याकरणप्रसिद्ध हैं। यद्यपि आज के निष्पक्षपात बौद्धविद्वान् भी इस तथ्य को मानते हैं कि उन व्याकरणों की शैली ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक नहीं है (देखिए भदन्त आनन्द कौसल्यायन

सम्पादित पालि मोग्गल्लान व्याकरण की शान्तिभिक्षुशास्त्री कृत भूमिका), तथापि पालि के परम्परागत शास्त्रीय पठन-पाठन को ध्यान में रखते हुए यहाँ कच्चायन के अनुसार भी पदों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है।

मूलपाठ के सम्पादन तथा टिप्पणियों में पाठान्तरों के निर्देश निम्नलिखित पुस्तकों के आधार पर किये गये हैं।

१. सिंहलदेशीय पाठ के लिए—धम्मपदट्ठकथा अर्थात् सटीक धम्मपद। कहवे श्रीरतनसार थेर द्वारा सम्पादित। हेववितरणे-विक्वेस्ट-सीरीज-नामक ग्रन्थमाला में प्रकाशित और सिंहली लिपि में मुद्रित। कलम्बो ई० १९१९।

२. ब्रह्मदेशीय पाठ के लिये—धम्मपदट्ठकथा अर्थात् सटीक धम्मपद। ब्रह्मराष्ट्रस्थ बुद्धशासनसमिति द्वारा प्रकाशित (छट्ठसंगायन संस्करण)। ब्रह्म देशीय लिपि में मुद्रित। ई० १९५८।

३. स्यामदेशीय पाठ के लिये—धम्मपदमूलमात्र। महामकुट राजविद्यालय संस्करण। स्यामदेशीय लिपि में मुद्रित। १९२५।

४. डॉ० फजबोल सम्मत पाठ के लिये—डॉ० व्ही० फजबोल द्वारा सम्पादित तथा लातिन अनुवाद, टीका के सारांश विशेष टिप्पणियों से युक्त संस्करण रोमन लिपि में मुद्रित। ई० १८५५।

५. नवनालन्दा महाबिहार से प्रकाशित (देवनागरी लिपि में) संस्करण को भी मैं पाठविवेक के लिये बीच-बीच में देखता रहा।

टिप्पणियों में स्थान-स्थान पर जिन विद्वानों के विचारों का समर्थन अथवा निरसन करना पड़ा उन सबों के नाम का उल्लेख यथास्थान पूर्णतया किया गया है। वे सभी पूर्वसूरि मेरे आदर के पात्र हैं। यद्यपि धम्मपद में आये हुए कठिन स्थलों के अर्थ के विषय में आधुनिक विदेशी विद्वानों की प्रशंसा मैं हर तरह से करता हूँ, एवं फजबोल, मैक्समूलर वेब्र, डॉ० राधाकृष्णन, राहुल सांकृत्यायन, चारुचन्द्र वसु आदि सभी देशी व विदेशी विद्वानों का मैं कृतज्ञ हूँ, फिर भी विचारवैषम्य के स्थलपर अशेषशास्त्र-पारङ्गत अट्ठकथाकार भदन्त बुद्धघोषाचार्य के विचारों को ही मैंने विशेष महत्त्व दिया है, क्योंकि बौद्धशास्त्र

की परम्परा का जैसा प्रत्यक्ष ज्ञान उन महानुभव को था वैसा आज के किसी पण्डित को होना दुर्लभ है।

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम प्रस्तुत संस्करण के संस्कृत छाया, अनुवाद, भूमिका आदि लेखक श्रद्धेय श्री कन्छेदीलालजी गुप्त, एम० ए० महोदय के प्रति मैं अपना आभार प्रदर्शित कर रहा हूँ, जिन्होंने इस संस्करण के संपादन तथा अनुवाद के साथ टिप्पणी प्रकाशन की अनुमति प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया है। तदनन्तर सत्साहित्य के प्रचारक चौखम्बा विद्याभवन के अधिकारिवर्ग मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

चौखम्भा विद्याभवन के प्रधान शुभचिन्तक पण्डित श्रीरामचन्द्रझाजी व्याकरणाचार्य तथा हिन्दीभाषा के प्रौढ़ विद्वान् श्रीमहेश्दत्तजी शुक्ल शास्त्री के प्रति भी आभार प्रदर्शित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ।

अन्त में मैं 'हिन्दी-भाषी विद्वान् पाठकों से यह निवेदन करता हूँ कि ये लोग हिन्दीभाषा में लिखने के मेरे इस प्रथम प्रयास में आई हुई त्रुटिओं के लिये मुझे क्षमा प्रदान करें।

श्रावणकृष्ण एकादशी, २०२५
वाराणसी

इति निवेदयति
विदुषां विधेयः
सत्कारिशर्मा वङ्गीयः

—: ० :—

भूमिका

१. धम्मपद : एक परिचय

धम्मपद का सामान्य परिचय—धम्मपद बौद्धधर्म के सिद्धान्तों एवं साधना-मार्ग को स्पष्ट करनेवाली एक अमर कृति है। हिन्दुओं में जिस प्रकार का सम्मान श्रीमद्‌भगवद्‌गीता को प्राप्त है, उसी प्रकार का सम्मान बौद्धधर्मावलम्बियों में धम्मपद को प्राप्त है। श्रीमद्भगवद्‌गीता स्वतन्त्र रचना नहीं है, महाभारत का एक अंग है, उसी प्रकार धम्मपद भी स्वतन्त्र रचना नहीं है। यह भी सुत्तपिटक के खुद्दक निकाय का एक अंग है।

पर जहाँ श्रीमद्भगवद्‌गीता का प्रतिपाद्य ज्ञान, कर्म और भक्ति है, वहाँ धम्मपद में केवल कर्म और वह भी सत्कर्म की महत्ता प्रतिपादित है। श्रीमद्भगवद्‌गीता हिन्दू धर्म का एक अत्यन्त उच्चकोटि का ग्रन्थ है व उसका दर्शन अत्यन्त प्रौढ़ एवं गहन है, वहाँ दूसरी ओर धम्मपद बौद्धधर्म का एक अत्यन्त आरंभिक ग्रन्थ है तथा उसका दर्शन एकांकी है—केवल नैतिक दृष्टिकोण तक ही सीमित है।

धम्मपद में २६ वर्ग हैं और ४२३ गाथायें या पद्य हैं। ये पद्य प्रारंभिक बौद्धों में प्रचलित साहित्य से एकत्रित किये गये हैं। ऐसा भी ज्ञात होता है कि अनेकों धर्मशास्त्रों से चयन करके इन पुष्पों को–पद्यों में प्रस्तुत किया गया है।

धम्मपद का शाब्दिक अर्थ—'धम्मपद' में दो शब्द हैं धम्म तथा पद। धम्म संस्कृत शब्द धर्म का पालिरूपान्तर है। धर्म शब्द की एक निश्चित परिभाषा नहीं है और भारतीय साहित्य में उसके विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुए हैं। पर धम्मपद ग्रन्थ में इसका प्रयोग सदाचार के अर्थ में हुआ है।

धम्मपद में दूसरा शब्द पद है। पद शब्द का अर्थ मार्ग है जैसे 'पमादो मच्चुनो पदम् (२१)' 'आकासे पदं नत्थि' (२५५) से स्पष्ट है इस प्रकार धम्मपद का अर्थ 'धर्म का मार्ग' हुआ।

पद का अर्थ वाणी, य, वचन भी है जैसे 'को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति' (४४) से स्पष्ट है। अतः धम्मपद का अर्थ भगवान् बुद्ध के सदाचार सम्बन्धी उपदेश या वचन भी हैं।

धम्मपद की निर्माण तिथि—

इस ग्रन्थ की निर्माण-तिथि के सम्बन्ध में प्रधानतया दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। प्रथम मत प्रो० मैक्समूलर का है। इनका कथन है कि प्रारम्भ में सभी बौद्ध ग्रन्थ मौखिक परम्परा के रूप में थे। सिंहल द्वीप के नरेश वट्टगामणि के आदेश से ये सभी ग्रन्थ लिखित रूप में आए। महावंश नामक ग्रन्थ में इस बात का उल्लेख है। महावंश की निर्माण तिथि ४५६-४७७ ई० है।

सिंहल द्वीप के नरेश वट्टगामणि का समय ८८ से ७६ ई० पूर्व है। अतः स्पष्ट है कि धम्मपद का वर्तमान रूप इसी समय निश्चित हुआ था।

दूसरा मत है कि सभी त्रिपिटक ग्रन्थों का संकलन भगवान् बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् ४७७ ई० पूर्व राजगृह में आयोजित प्रथम महासंगीति-सम्मेलन में किया गया था। द्वितीय और तृतीय महासम्मेलनों में तो इन संकलनों की पूर्णता प्राप्त हो गई थी।

अतः यह निश्चित है और उपर्युक्त दोनों मतों का निष्कर्ष यह है कि वास्तव में त्रिपिटकों का संकलन (जिसमें धम्मपद भी अन्तर्हित है) ४७७ ई० पूर्व ही हो गया था। पर, सम्भव है कि यह संकलन लिखित रूप में न किया गया हो उस समय केवल मौखिक हो और बाद में पट्टगामणि नरेश के आदेश से लिखित रूप में प्रस्तुत किया गया हो।

धम्मपद का प्रतिपाद्य विषय भगवान् बुद्ध के उपदेश ही हैं। पर ये उपदेश श्रुति-परम्परा से चलते रहे। तीनों धर्म-सम्मेलनों (संगितियों) में इन उपदेशों का संकलन हुआ और फिर उसी समय अथवा वट्टगामणि के समय इन्हें लिखित स्वरूप प्राप्त हुआ। इस प्रकार प्रतिपाद्य-विषय की दृष्टि से धम्मपद की रचना ५४३ ई० पू० (जब भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था) के पहले हुई है और लिखित रूप में वह ४७७ ई० पूर्व से ८८-७६ इ० पूर्व में आया है।

पर ४७७ ई० पू० से ८८-७६ ई० पू० का समय बहुत बड़ा है। इसमें देखना है कि वास्तव में इसे लिखित रूप कब प्राप्त हुआ है। इसके लिए कुछ बाह्य-प्रमाणों की समीक्षा समुचित होगी।

बाह्य-साक्ष्य—

१. मिलिन्दपञ्हो एक प्राचीन एवं सुविख्यात पालि ग्रन्थ है। इसकी रचना प्रथम शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में हुई है। इस ग्रन्थ में धम्मपद का उल्लेख आया है।

२. महानिद्देस नामक ग्रन्थ अट्ठक-वग्ग पर शास्त्रीय भाष्य है। इस महा-निद्देस में ऐसे वाक्य आए हैं जो केवल धम्मपद में हैं। चुल्लनिद्देस में भी ऐसे वाक्य हैं जो धम्मपद के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलते। ये दोनों ग्रन्थ ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी के पश्चाद्वर्ती नहीं हो सकता।

३. परम्परा से ऐसा माना जाता है कि सम्राट् अशोक ने धम्मपद के अप्रमाद वर्ग को विद्वान् श्रमणों से सुना था। इससे स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक के पहले से धम्मपद का प्रचार था और वह धार्मिक ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुका था। अशोक का समय ई० पूर्व तृतीय शताब्दी है अतः निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि धम्मपद अपनी वर्तमान अवस्था में ई० पूर्व तृतीय शताब्दी में अवश्य मिला था।

धम्मपद के रचयिता—धम्मपद के रचयिता वास्तव में भगवान् बुद्ध हैं। पर यह कहा नहीं जा सकता कि उन्होंने यथार्थ में अपने उपदेश पद्य में दिये थे। प्रतीत तो ऐसा होता है कि उनके उपदेशों को परवर्ती बौद्ध विद्वानों ने मौखिक रूप में स्मरण रखने के लिए पद्य रूप में बना लिया था। और इन्हीं का धर्म-सम्मेलनों में संकलन व संशोधन हुआ।

धम्मपद किस ग्रन्थ का भाग है—बौद्ध धर्म के मान्य ३ ग्रन्थ हैं जो त्रिपिटक कहे जाते हैं। इनमें सुत्तपिटक एक हैं और यह सुत्तपिटक ५ निकायों याने भागों में विभक्त है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दक निकाय। पाँचवें निकाय खुद्दक में १५ अङ्ग हैं या छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं। इनमें से धम्मपद एक अङ्ग या ग्रन्थ है।

धम्मपद से सम्बन्धित कथायें—धम्मपद में कुल ४२३ गाथाएँ या पद्य है। इन गाथाओं या पद्यों से सम्बन्धित धम्मपदट्ठकथा सिंहल भाषा में सुरक्षित थी। भदन्त बुद्धघोष महास्थविर ने उसका पालिभाषा में परिवर्तन किया है।

भगवान् बुद्ध ने जिस स्थान पर, जिस व्यक्ति को, जिस व्यक्ति के सम्बन्ध में जिस गाथा का उपदेश दिया था, उसका विस्तार-पूर्ण वर्णन धम्मपदट्ठकथा में दिया हुआ है। इन कथाओं को बिना पढ़े धम्मपद की गाथाओं का अर्थ स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता। धम्मपदट्ठ कथा में कुल ३०५ कथाएँ हैं।

धम्मपद से सम्बन्धित कथा-स्थल—भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को तथा साधारण जनसमूह को किसी एक स्थल पर बैठकर सब उपदेश नहीं दिये थे। वे एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण करते रहे, अतः उनकी उपदेशस्थली भी भिन्न-भिन्न हैं। धम्मपद की गाथाओं का सबसे अधिक उपदेश उन्होंने जेतवन में दिया था। लगभग १८५ गाथाएँ या पद्य जेतवन में उपदिष्ट हैं।

जेतवन श्रावस्ती में है। एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह में ठहरे हुये थे। वहाँ श्रावस्ती के श्रेष्ठी सुदत्त ने आकर उनसे दीक्षा ग्रहण की और विचार किया कि राजकुमार 'जेत' का उद्यान मोल लेकर भगवान् बुद्ध के निवास के लिये अर्पित कर दें। सुदत्त ने छकड़ों में १८ कोटि कार्षापण (सुवर्ण मुद्राएँ) भर कर जेत को देकर उद्यान खरीद लिया। सुदत्त, अनाथ-पिण्डद भी कहलाते हैं। भरहुत के स्तूप में इस दान का दृश्य अंकित हैं। इसी जेतवन में भगवान् बुद्ध के अमूल्य उपदेश हुए हैं।

जेतवन के अतिरिक्त राजगृह (वेणुवन) में लगभग ४०, श्रावस्ती में १८, श्रावस्ती (जेतवन) में १३, श्रावस्ती (पूर्वाराम) में ६, तथा वेणुवन में ७ गाथाएँ भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट हुईं। इन स्थानों के अतिरिक्त वैशाली, कपिलवस्तु न्यग्रोधाराम, राजगृह (गृध्रकूट), कोशलदेश, आलवी, वेणुग्राम आदि स्थानों में भी भगवान् ने इन गाथाओं का उपदेश दिया था। ये सभी स्थान वर्तमान बिहार प्रान्त में हैं।

२. बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म का सामान्य परिचय—भारतवर्ष अनादि काल से धर्म-भूमि रहा है। यहाँ के मनीषियों ने समय-समय पर, तत्कालीन जन-भावना के

अनुसार, जन-मानस की पात्रता को देखते हुये संसार में जीवन-यापन के तथा मृत्यु के पश्चात् शान्ति प्राप्ति के लिये अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। कहना न होगा कि समस्त विश्व के प्राचीनतम धर्मों की भूमि इन मनीषियों की चिन्तन-स्थली यही भारतवर्ष रहा है। संसार के तीन प्राचीन एवं प्रसिद्ध धर्म–हिन्दू-धर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म इसी भारत-वसुन्धरा पर प्रसूत पल्लवित एवं पुष्पित हुये हैं। इन तीनों धर्मों में भारत-वसुन्धरा के स्वाभाविक गुण एक साथ पाये जाते हैं। कर्मवाद जन्मान्तरवाद, जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष, कैवल्य या निर्वाण तीनों धर्मों में मान्य है।

बौद्धधर्म के प्रतिष्ठापक—भगवान् गौतम जिन्हें आरम्भ में राजकुमार गौतम कहना ही उपयुक्त है, कपिलवस्तु के एक प्रतिष्ठित क्षत्रिय राजा के यहाँ उत्पन्न हुए थे। उनका विवाह यशोधरा नामक एक अत्यन्त सौन्दर्यशालिनी राजकुमारी से हुआ था। पर बाल्यावस्था से ही जन्म, जरा एवं मृत्यु से पीड़ित लोगों के दुःखों को दूर करने की बात उनके ध्यान में आती रही। विवाह के पश्चात् पुत्र जन्मोपरान्त तो उन्होंने गृहत्याग ही कर दिया और अनेकों वर्ष भटकने के बाद, अपने एकान्तचिन्तन एवं मनन के फलस्वरूप वे एक निष्कर्ष पर पहुँचे। उन्होंने मनुष्यजीवन का लक्ष्य निश्चित किया—जन्म, जरा, व्याधि एवं मृत्यु के चक्कर से सदैव को दूर हो जाने की स्थिति को उन्होंने नाम दिया—निर्वाण प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति। और इस मोक्ष प्राप्ति के लिये उन्होंने सरल साधन भी प्रस्तुत किये। उन्होंने जो कुछ कहा उनके जो उपदेश हैं—वही बौद्धधर्म का सार है। जिस दिन राजकुमार गौतम को चिन्तन एवं मनन के पश्चात् यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ, उसी दिन से वे भगवान् गौतम बुद्ध (बुद्ध = जाग्रत हुआ, जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है वह, बुध् का कर्तरि भूत कृदन्त) एवं सिद्धार्थ (जिसके अर्थ सिद्ध हो गये हैं वह; सिद्धा अर्था यस्य सः) नाम से संबोधित होने लगे।

गौतम एक लौकिक मनुष्य थे, पर उन्होंने अपने जीवन में—अपने शरीर और मन के द्वारा ऐसी साधना की, ऐसे प्रयोग किये कि अन्त में उन्हें भगवत्त्व प्राप्त हो गया—वे नर से नारायण बन गये। उन्होंने यह सिद्ध करके बतला दिया कि मनुष्य प्रयास करने से ही श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है। धम्मपद

की गाथा ३८० में उन्होंने स्पष्ट कहा है—मनुष्य अपना स्वामी आप स्वयं है। दूसरा कौन स्वामी हो सकता है।

इस सन्दर्भ में पूज्य गाँधीजी का स्मरण हो आता है। उन्होंने अपनी आत्म-कथा को सत्य के प्रयोग (My Experiments with Truth), कहा है। गान्धीजी भी अपने शरीर और मन को एक प्रयोगशाला मानते रहे हैं और शरीर एवं मन पर प्रयोग करते-करते वे एक ऐसी स्थिति पर पहुंच गये थे, जहाँ से उन्हें विचलित करना आसान न था। भगवान् गौतम ने भी अपने जीवन से स्पष्ट कर दिया है कि एक साधारण से साधारण मनुष्य भी साधना से आगे बढ़ सकता है।

बौद्ध धर्म का साध्य—मनुष्य-जीवन दुःख एवं संतापों से पूर्ण है—जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन में दुःख ही दुःख है। जन्म, जरा, व्याधि एवं मृत्यु के चक्कर में मनुष्य पड़ा रहता है यही नहीं, मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म, जरा व्याधि और मृत्यु और पुनः वही–यही चक्र चलता रहता है। अतः बौद्धधर्म में हिन्दू एवं जैन धर्मों की भाँति ही इस दुःखपूर्ण जीवन-चक्र को सदैव के लिये नष्ट कर देने को अपना ध्येय लक्ष्य या साध्य माना है।

बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्त—

(१) संसार दुःखमय है। यह संसार दुःख से पूर्ण है। जन्म, जरा, व्याधि एवं मरण, अप्रिय का मिलन तथा प्रिय का वियोग दुःखपूर्ण है।

(२) इन दुःखों का कारण है। इन सारे दुःखों की उत्पत्ति किन्हीं कारणों से ही होती है। इच्छा अभिलाषा लालसा या बौद्धधर्म की भाषा में तृष्णा ही समस्त दुःखों का कारण है तृष्णा से ही समस्त दुःखों की उत्पत्ति होती है।

(३) इन दुखों का निरोध किया जा सकता है। कारण के नष्ट कर देने से कार्य स्वयं नष्ट हो जाता है। इन दुःखों का कारण इच्छा अभिलाषा लालसा या तृष्णा है। इनका त्याग कर देने से दुःख नष्ट हो जाता है।

(४) इनको त्याग करने का मार्ग है। दुःखों के कारणभूत इच्छा, तृष्णा आदि का त्याग सरलता पूर्वक नहीं किया जा सकता। पर इन्हें त्याग करने का उपाय है, मार्ग है। इस मार्ग को अष्टांगिक मार्ग कहते हैं।

इस अष्टांगिक मार्ग में निम्नलिखित आठ बातें हैं। (१) सम्यक् दृष्टि-उपर्युक्त चारों आर्यसत्यों में पूर्ण विश्वास रखना। (२) सम्यक् संकल्प—अका

को न करने का दृढ़ निश्चय—संकल्प करना। (३) सम्यक् वचन–असत्य भाषण बकवास आदि से दूर रहना। (४) सम्यक् व्यवहार–प्राणिहिंसा तथा दुराचार आदि से बचना। (५) सम्यक् आजीव—सत्य प्रकार से आजीविका चलाना। (६) सम्यक् व्यायाम—मानसिक दोषों को पराजित करना। (७) सम्यक् स्मृति—जन्म, जरा, मृत्यु का सदैव स्मरण रखना। (८) सम्यक् समाधि—तर्क, विचार शान्ति और एकाग्रता का आश्रय लेना।

उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म का साधन पक्ष है।

बौद्ध धर्म प्रधानतः आचार धर्म है—इस धर्म में नैतिक चरित्र एवं आचरण का बड़ा महत्त्व माना गया है। मनुष्य का अच्छा या बुरा होना; सुखी या दुःखी होना उसके कार्यों एवं आचरण पर निर्भर है। मनुष्य को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह सदाचार-युक्त बने, सत्कर्मशील बने।

बौद्धदर्शन—दर्शन का विषय है सृष्टि, जन्म-मृत्यु परलोकवाद, ईश्वरवाद आदि के सम्बन्ध में विचार। भगवान् बुद्ध ने इन प्रश्नों को अवक्तव्य या अनिर्वचनीय कहा है अर्थात ये प्रश्न पूछने या जानने योग्य नहीं हैं। इनके जानने या न जानने से मनुष्य को कोई हानि लाभ नहीं है, अतः इनका जानना व्यर्थ है।

ईश्वर एवं ईश्वरभक्ति के सम्बन्ध में इस दर्शन का निष्कर्ष है कि ईश्वर-भक्ति पर भरोसा रखनेवाले मनुष्य में शिथिलता एवं पराश्रयता का उदय हो जाता है। भक्ति के सहारे ईश्वर या देवता के भरोसे रहकर मनुष्य असद्-आचरण कर सकता है और ईश्वर या देवता से अपनी भक्ति के बल पर उस असद्-आचरण को क्षमा भी करवा सकता है। इसलिये यहाँ भक्ति या ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। उसका सिद्धान्त है—सदाचारी बनो, स्वावलम्बी बनो। तुम स्वयं ही अपना उत्कर्ष कर सकते हो, तुम्हारा उत्कर्ष साधन कोई दूसरा नहीं कर सकता।

कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म में इस दर्शन को विश्वास है। मनुष्य कर्म के अनुसार ही पुनर्जन्म लेता है तथा कर्म के बन्धन छूटने को ही निर्वाण कहते हैं।

तप की पराकाष्ठा इसमें उचित नहीं समझी गई है। अधिक शारीरिक या मानसिक कष्ट सहन करना अच्छा नहीं है। उसी प्रकार सांसारिक पदार्थों में अत्यन्त लिप्त हो जाना भी ठीक नहीं समझा गया है। इन दोनों विरुद्ध सीमाओं

(extremities) के बीच उन्होंने सुवर्ण मध्य को स्वीकार किया है—जिसमें न अतिशय तपस्या है ओर न अतिशय भोगलिप्सा।

बौद्धों के तीन रत्न हैं—बुद्ध, संघ एवं धर्म। प्रत्येक मनुष्य को इस धर्म में दीक्षित होने के समय इन तीनों की शरण में जाने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है।

पश्चाद्वर्ती बौद्धजीवन में शाखाएँ हो जाने से चार बौद्धदर्शन हो गए हैं–वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक।

बौद्धधर्म की परवर्ती शाखाएँ—भगवान् बुद्ध ने सृष्टि एवं ईश्वर,सम्बन्धी प्रश्नों को अनिर्वचनीय, अव्याकृत कह कर मौन धारण कर लिया था। पर उनके परवर्ती धर्मावलंबियों ने सृष्टि और ईश्वर के सम्बन्धमें अपने'अपनेविचार प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया।

दूसरी ओर संसार-समुद्र में पड़े हुये मनुष्यको सहारे की अत्यन्त आवश्यकता होती है। मनुष्य एकदम स्वावलम्बी नहीं हो सकता। उसे ईश्वर या देवता की सहायता की आवश्यकता है, जो उसको पूजन अर्चन एवं वन्दन से प्रसन्न होकर पार लगा दे। मनोवैज्ञानिक-ढंग से विचार करें तब भी हमें स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि यदि हमें सहायता की आशा है, चाहे सहायता मिले या नहीं तो हम हिम्मत-पूर्वक कार्य करते रहते हैं। यदि हमारा कोई सहारा ही नहीं है तो हम दम तोड़देते हैं और निस्सहाय बनकर बैठ जाते हैं।

इन्हीं दो कारणों या कमियों की पूर्ति के लिये पश्चाद्वर्ती बौद्धधर्म में महायान शाखा का जन्म हो गया, जिसमें ईश्वर के स्थान पर गुरु की पूजा होने लगी। दूसरी शाखा जिसमें परम्परागत बातें थीं, हीनयान कहलाई।

धीरे-धीरे बौद्धसाहित्य में भी पौराणिक कहानियों के समान सैकड़ों कहानियाँ (बुद्ध के जन्म-सम्बन्धी) बना दी गई–और उनका खूब प्रचार होने लगा।

महायान शाखावलम्बी बौद्ध सभी के निर्वाण की कामना करते हैं। वे अत्यन्त उदार होते हैं। हीनयान शाखावलम्बी बौद्ध केवल अपने स्वतः के लिए प्रयासशील होते हैं।

महायान शाखा में हिन्दूधर्म का प्रायः पूर्ण स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इसमें बुद्ध को सर्वशक्तिमान् माना गया है तथा जिस प्रकार विष्णु अवतार लेते हैं उसी प्रकार बुद्ध के भी अवतार बतललाए गये हैं। बुद्ध की प्रतिमाएँ बनने लगी तथा पूजा होने लगी और बौद्धभिक्षु, पुरोहितों का काम करने लगे।

बौद्धधर्म की विशेषताएँ—

(१) बौद्धधर्म हिन्दूधर्म की आडम्बरप्रियता की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ है। अतएव इस धर्म में यज्ञ का पूर्ण विरोध किया गया है।

(२) यह धर्म आचार-प्रधान धर्म है। अतः इसमें उच्च प्रकार की नैतिकता एवं सदाचार का विशेष महत्त्व है।

(३) इस धर्म में निराशावाद अधिक है। जीवन को निराश-पूर्ण एवं दुःखमय समझा गया है तथा इस निराशा एवं दुःख से दूर होने के उपाय बतलाए गये हैं।

(४) इस धर्म का कर्म-फल में पूर्ण विश्वास हैं। मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है और कर्म-फल भोगने के लिए ही उसके अनेक जन्म होते हैं।

(५) इस धर्म में–प्रारम्भिक धर्म में ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझी गई है। ईश्वर एवं सृष्टि-सिद्धान्त के बारे में भगवान बुद्ध मौन रहे हैं।

(६) ज्ञान और भक्ति को छोड़कर इस धर्म में कर्म, और सदाचारण का विशेष महत्त्व प्रदर्शित है।

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन—

(१) कलाओं की उन्नति—कला के माध्यम में-चित्रकार की तूलिका में मूर्तिकार की छेनी में एवं नर्तक की मुद्रा में–भारतीय संस्कृति के जो दर्शन हम पाते हैं वह अद्वितीय हैं। अजन्ता की चित्रकला कार्ले आदि की बौद्ध गुफाएँ साँची, भरहुत तथा अमरावती के स्तूप, अमरावती व मथुरा की मूर्तियाँ तथा अशोक के शिलास्तम्भ भारतीय कला के अच्छे नमूने हैं।

(१) साहित्य का विकास—पालि में समस्त बौद्धसाहित्य का प्रणयन हुआ है। पालि साहित्य में त्रिपिटकों का अपना महत्व है। पालिभाषा का भाषा-विज्ञान एवं प्राचीन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने में महत्त्व, किसी से छिपा नहीं है।

(३) सरल एवं लोकप्रिय धर्म—इस धर्म के द्वार सभी के लिये खुले थे और यह धर्म हिन्दुओं के धार्मिक कर्मकाण्डों के समान जटिल नहीं था। इसमें केवल एक महत्त्व की बात थी—सदाचरण, और उसका पालन करना सभी को सरल था।

(४) उच्च नैतिक आदर्श—इस धर्म में सदाचार, लोकसेवा एवं त्याग पर बड़ा बल दिया गया है। महायानियों ने तो अपने स्वयं के निर्वाण की परवाह न करके प्राणिमात्र के दुःख दूर करने एवं उनके निर्वाण-प्राप्ति में सहयोग देने को अपने जीवन का लक्ष्य माना है।

बौद्ध धर्मावलम्बियों के द्वारा भारतीय संस्कृति का प्रसार—बौद्ध धर्म का उत्कर्ष, सम्राट् अशोक के समय में हुआ था। इस धर्म को विश्व-धर्म बनाने का श्रेय उन्हीं को है। उन्होंने अपने पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा को लंका धर्म-प्रचार के लिये भेजा था। चीन कोरिया, मध्य एशिया, बर्मा, श्याम मलाया, जावा सुमात्रा आदि में हमारी संस्कृति का ध्वज बौद्ध धर्मावलम्बियों द्वारा फहराया गया था।

बौद्धधर्म और हिन्दूधर्म में प्रमुख समानतायें और विषमतायें—

दोनों धर्म कर्मवाद और पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। दोनों धर्मों का साध्य है—जन्म जरा व्याधि एवं मृत्यु से छुटकारा पाना।

हिन्दूधर्म में सृष्टि के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की धारणाएं हैं, पर भगवान् बुद्ध ने इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया।

हिन्दू धर्म ईश्वरवादी है। ज्ञान कर्म भक्ति आदि को हिन्दूधर्म में स्थान है। पर बौद्ध धर्म में ईश्वर के प्रश्न पर विचार नहीं किया गया है। भगवान् बुद्ध ईश्वर के प्रश्न पर मौन हैं। इस धर्म में भक्ति का भी कोई स्थान नहीं है। केवल कर्म और वह भी सत्कर्म का महत्त्व है।

पर परवर्ती बौद्धधर्म में—महायान शाखा में हिन्दूधर्म के समान अवतार-वाद मूर्तिपूजा पौराणिक गाथाएँ भिक्षुकों की पुरोहित के रूप में प्रतिष्ठा गुरु का सम्मान आदि का प्रचलन हो गया।

३. धम्मपद का प्रतिपाद्य

धम्मपद का प्रतिपाद्य—बौद्धधर्म प्रधानतः आचार धर्म है। इस धर्म में नैतिक सदाचार का बड़ा महत्त्व है। अतः धम्मपद में प्रधान रूप से उन सभी नैतिक सदाचार की बातों का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार चलने से मनुष्य अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य–दुःखों के विनाश को प्राप्त कर लेता है।

इसके साथ ही धम्मपद में बौद्धधर्म की कुछ अन्य विशेताओं का वर्णन

भी पाया जाता है। धर्म और दर्शन की आवश्यकता है, मनुष्यों का जीवन निराशा से पूर्ण है, संसार दुःखों से भरा है, दुःख क्यों होते हैं, इन दुःखों से छुटकारा पाने के उपाय क्या हैं, दुःखों से छूटने की अवस्था का नाम क्या है और वह कैसी होती है आदि बातों का वर्णन भी इस ग्रन्थ में हैं।

धर्म और दर्शन की आवश्यकता—'संसार में जब नित्य ही आग जल रही है, तो यह हँसी क्या है और आनन्द क्या है? अन्धकार से घिरे हुए तुम लोग दीपक को क्यों नहीं खोजते (१४६)। इस दुःख एवं अन्धकार को दूर करने के लिये ही बौद्धधर्म एवं बौद्धदर्शन ने अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं।

जीवन निराशा से पूर्ण है—बौद्धधर्म में माना गया है कि जीवन निराशमय है। हर्ष, आनन्द एवं उल्लास उसमें तनिक भी नहीं है। मनुष्य-शरीर धारण करना दुःख से पूर्ण है (२०२) शरीर का यह सौन्दर्य जरा से विनष्ट होनेवाला है, शरीर रोगों का घर है और क्षणभंगुर है, दुर्गन्घ का ढेर एवं खण्ड-खण्ड में विखर जानेवाला है (१४८) यह शरीर हड्डियों का नगर है और मांस तथा रक्त से लेपा गया है। इसमें वृद्धावस्था, मृत्यु, अभिमान एवं ईर्ष्या का निवास है (१५०) बार-बार जन्म लेना दुःखदाई है (१५३)। प्रीति, स्नेह, आसक्ति, कामना एवं तृष्णा सभी दुःखों से पूर्ण है (२१२ से २१६)।

चार आर्य-सत्यों की प्रतिष्ठा—ऐसी निराशावादिता तथा दुःखमय जीवन को लेकर, बौद्धधर्म के आधार आर्य-सत्यों की प्रतिष्ठा हुई है—संसार में दुःख है, इस दुःख की उत्पत्ति होती है, दुःख का विनाश होना है और इस दुःख के विनाश के मार्ग भी हैं (१९१)।

दुःखों की चरम शान्ति ध्येय है—मनुष्य जीवन का लक्ष्य है समस्त दुःखों— जन्म जरा, व्याधि एवं मृत्यु के दुःखों से सदैव के लिये छुटकारा पा लेना। बौद्ध धर्म में इस अवस्था को निर्वाण कहा गया है। 'निर्वाण परम सुख है' (२०३), अन्य स्थानों पर इसे 'संस्कार-हीनता' (१५४) और अनुपम योगक्षेम का स्थान (२३) भी कहा गया है।

संसार में मनुष्य को दुःख क्यों होता है—मनुष्यों की सारी प्रवृत्तियों का आरम्भ मन से होता है। यदि मन दुष्ट है तो मनुष्य का आचरण दुष्टता-पूर्ण होता है तथा परिणाम में उसे दुःख मिलता है (१) चित्त इच्छानुसार भोगने वाला है, (३५) तृष्णा से ग्रसित होकर मनुष्य बँधे हुए खरगोश के

समान चक्कर काटते हैं—जन्म, जरा व्याधि एवं मृत्यु के चक्कर में पड़ते हैं (३४३)। तात्पर्य यह है कि मन एवं चित्त के असंयत होने पर मनुष्य में प्रीति, आसक्ति, कामना एवं तृष्णा की वृद्धि होती है और फिर मनुष्य दुःखी होता है (२१२ से २१६), क्योंकि इनकी प्राप्ति के लिये इन्द्रियाँ भी असंयत हो जाती हैं, मनुष्य नित्य ही आनन्द-प्रमोदों को देखता रहता है और उनकी प्राप्ति की अभिलाषा करता रहता है (७)।

अष्टांगिक मार्ग—इस सारे दुःखों एवं दुःख के कारणों से छुटकारा पाने का साधन या मार्ग भी बौद्धधर्म ने प्रस्तुत किया है। यही साधन या मार्ग अष्टांगिक मार्ग है (२७३) अष्टांगिक मार्ग में आठ बातें हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ।

इन अष्टांगिक मार्गों के आधार पर दुःखों से छुटकारा पाने के अनेकों नैतिक नियमों का उल्लेख किया गया है। प्रायः प्रत्येक धर्म में इन नैतिक नियमों की एक सी मान्यता है।

सब से प्रथम भगवान् बुद्ध के उपदेशों को ध्यान में रखना चाहिए (१८३-१८४)। समस्त दुःखों का कारण तृष्णा है। सर्वप्रथम तृष्णा, लोभ या लालच का क्षय करना चाहिए (१८७) तृष्णा का क्षय चित्त के दमन करने से होता है (३५)। इसके अतिरिक्त मनुष्य को प्रमादहीन होना चाहिए (३४)। उसे मन, वाणी तथा शरीर से क्रोध का त्याग करना चाहिए (२३३,२३२, २३१)। कभी किसी को कठोर वचन नहीं कहना चाहिए (१३३) शरीर, वाणी, नेत्र एवं मन से संयमित होना चाहिए (२८१, ३६०, ३६१)। सदैव अकर्कश, ज्ञान-वर्धक एवं सत्य वाणी का प्रयोग करना चाहिए जिससे किसी को पीड़ा न पहुँचे (४०८)।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह दूसरे के दोषों को न देखे (५०), अच्छे लोगों का अपकार न करे। (१२५), अपनी इन्द्रियों को शान्त कर ले (६४), अपने आपको टूटे हुए काँसे के समान निःशब्द-निश्चल कर ले (१३४) तथा राग द्वेष, मान एवं दम्भ से दूर हो जावे (४०७)

इन सब अच्छे गुणों की प्राप्ति एवं असदाचरण का त्याग सरल नहीं है। इसके लिये मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव धैर्यशाली, प्राज्ञ, विद्वान्, कर्मठ,

व्रतवान् आर्य एवं मेधाशाली सत्पुरुष का संग करे (२०८)। वृद्धजनों की सेवा करने से मनुष्य की चार वस्तुएँ बढ़ती हैं आयु वर्ण सुख और बल (१०९)।

मनुष्य के स्वावलम्बी होने पर बौद्धधर्म में बड़ा महत्त्व दिया गया हैं—'मनुष्य अपने स्वयं से किए गये पाप से अपने को मलिन करता है। अपने स्वयं से न किये गये पाप से स्वयं शुद्ध रहता है। शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक मनुष्य पर निर्भर है। कोई मनुष्य किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता (१६५) मनुष्य अपना स्वामी आप स्वयं हैं। दूसरा कौन स्वामी हो सकता है। अपने स्वयं को भली प्रकार से दमन कर लेने पर मनुष्य दुर्लभ स्वामी को प्राप्त कर लेता है (१६०), 'इन अन्य प्रजाओं के जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीतना श्रेष्ठ है' (१०४), अपने द्वारा अपने को प्रेरित करो। 'अपने द्वारा अपने को संलग्न करो' (३७९) आत्मा स्वयं आत्मा का स्वामी है और आत्मा स्वयं आत्मा की गति है। इसलिये जिस प्रकार 'वैश्य अपने भले घोड़े को संयत रखता है, उसी प्रकार तुम भी अपनी आत्मा को संयत रखो' (३०८) श्रीमद्भगवद्गीता में भी इसी प्रकार स्वावलम्बन का विशेष महत्त्व प्रतिपादित है—
"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।।"

असदाचारी की दुर्गति होती है—इस बात का भी विस्तारपूर्वक विवरण दिया गया है। पाप-कर्म थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है। पानी की बूंद-बूंद गिरने से जल का घड़ा भर जाता है। इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य थोड़ा २ भी संचय करते हुए पाप का घड़ा भर लेता है (१२१)। पाप आरम्भ में अच्छा लगता है। जब तक पाप-कर्म का परिपाक नहीं होता है तब तक मूर्ख मनुष्य उसे मधु के समान जानता है। और जब पाप-कर्म का परिपाक हो जाता है, तब वह मूर्ख मनुष्य दुःख को प्राप्त होता है (६९)। 'पापचारी इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सन्ताप को प्राप्त होता है' (१७)। जो पापी एवं असदाचारी होते हैं उन्हें शान्ति नहीं मिलती (७, १२६, १२७) और अन्त में उन्हें नरक की प्राप्ति होती है (३०६, ३०७)।

इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि गलत मार्ग पर न चले (१६७), संसार की सब वस्तुएँ अनित्य हैं—यह भावना सदैव रखे (२७७-२७९) तथा बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में रहे (१९०)।

निर्वाण प्राप्ति के लिए ईश्वर-भक्ति की आवश्यकता नहीं है—

बौद्धधर्म की साधनामें ईश्वर-भक्ति को कोई स्थान नहीं है। अपने अष्टांगिक मार्ग में भगवान् बुद्धने ईश्वर-भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं दिया है। उनका कहना था कि अदृश्य-सत्ता की खोज करने की अपेक्षा दृश्य सत्ता—दृश्य जगत् पर विश्वास करना श्रेयस्कर है। उनका कहना था कि ईश्वर ज्ञान एवं ईश्वर भक्ति के बिना मनुष्य को स्वावलम्वी बनकर अपना स्वयं उद्धार करना चाहिए।

निर्वाण प्राप्त मनुष्य की अवस्था—सांसारिक दुःखों से छूटकर मनुष्य उत्तम स्थिति को प्राप्त हो जाता है (३८६) वह मार्ग और अमार्ग का ज्ञाता बन जाता है (४०३), वह पुण्य और पाप—दोनों के संग से अलग हो चुकता है, शोक-रहित, रजो गुण रहित एवं शुद्ध होता है (४१२)। वह पाप-रहित संशय-विहीन, अनासक्त और निवृत होता है (४१४), उसे ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेने पर बड़े २ 'दुष्कर्मों का बड़ी २ हत्याओं का पाप भी स्पर्श नहीं कर पाता (२९४) ऐसा ज्ञानी पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, पूर्ण हो जाता है ४२३)।

धम्मपद का बौद्ध धर्म में महत्त्व—धम्मपद बौद्धधर्म की प्रारम्भिक पुस्तिका है, पर इसमें बौद्धधर्म के सभी प्रमुख सिद्धान्तों का समावेश हो गया है। चार आर्य सत्य अष्टांगिक मार्ग एवं विविध प्रकार के सदाचरण का इसमें उल्लेख किया गया है। इसके भली प्रकार अध्ययन करने से हम बौद्धधर्म की पूरी रूपरेखा समझ जाते हैं। दूसरी ओर इसमें वर्णित सदाचरणके पालन से अगणित दुःख संतप्त मानवों का उद्धार हुआ है और आज भी उद्धार हो रहा है। आज के भौतिकवादी युग में भगवान् बुद्ध के ये वचन मानव-जीवन का अधिक से अधिक कल्याण करने में सक्षम हैं। इस छोटी सी पुस्तिका का पाठ किया जाना चाहिए, श्रवण, अध्ययन एवं मनन होना चाहिए और तदनुसार कार्य भी होवे तो मानव-कल्याण होना अवश्यभावी है। आज से लगभग २२०० वर्ष पूर्व सम्राट् अशोक ने तो विद्वानों से इस ग्रन्थरत्न के एक वर्ग का श्रद्धा-सहित श्रवण किया था। वास्तव में दुःखी-मानवकल्याण के लिए भगवान् बुद्ध ने सरलतम साधनाएँ इसमें भर दी हैं।

४. पालि भाषा

सामान्य परिचय—जिस भाषा में त्रिपिटक तथा त्रिपिटकों से सम्बन्धित साहित्य की रचना की गई है, वह पालि भाषा है। यह पालि भाषा प्राचीन

प्राकृत भाषाओं में से है और उन्हीं भाषाओं के समान आज मृतप्राय है। पर बौद्धधर्म के विद्वान् आज भी विद्वत्समाज में पालिभाषा का थोड़ा बहुत प्रयोग करते हैं।

भगवान् बुद्ध के समय में मगध प्रदेश की जन-भाषा मागधी थी। यह मागधी एक प्रकृत भाषा है। भगवान् बुद्ध ने अपने सभी उपदेश इसी जन-भाषा मागधी में किये थे। भगवान् बुद्ध के पश्चाद्वर्ती शिष्यों ने इन उपदेशों का एवं भगवान् बुद्ध के जीवन-सम्वन्धी स्मरण योग्य बातों का प्रचार इसी भाषा में किया।

बाद में भगवान् के इन उपदेशों, संवादों एवं जीवन की घटनाओं का संकलन मागधी-भाषा के एक सुसंस्कृत साहित्यिक रूप में—पालि भाषा में किया गया। और, तभी से यह पालिभाषा एक साहित्यिक भाषा बन गई। यह पालि-भाषा भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पश्चात् ही धीरे-धीरे प्रचलित होते हुए साहित्यिक रूप को प्राप्त हुई है।

बौद्धधर्म का पूर्ववर्ती समस्त साहित्य पालि भाषा में है या यों कहना चाहिए कि पालि-साहित्य में केवल बौद्धधर्म का ही विवेचन किसी न किसी रूप में पाया जाता है। पालि-साहित्य में बौद्धधर्म के साहित्य के अतिरिक्त अन्य साहित्य का प्रणयन नहीं हुआ। पश्चाद्वर्ती बौद्धधर्मियों ने संस्कृत में भी बौद्ध साहित्य का सृजन किया है।

नामकरण—इस भाषा का नाम पालि क्यों पड़ा ? इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं—

१. कुछ विद्वानों का अभिप्राय यह है कि 'पालि' संस्कृत भाषा का शब्द है और इसका अर्थ पंक्ति, श्रेणी या कतार है। उसके अनुसार 'पाल' धातु में उणादि का 'इ' प्रत्यय लगाकर इस शब्द की सिद्धि होती है। श्री आचार्य विधु-शेखर शास्त्री सदृश विद्वान् भी इस अर्थ से सहमत हैं।

पालि-साहित्य में कहीं-कहीं पालि शब्द का अर्थ श्रेणी या कतार या पंक्ति के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ग्रंथ के साथ भी पालि शब्द प्रयुक्त हुआ है जैसे उदानपालि, पाचित्तिय पालि आदि।

२. 'पालि' शब्द का प्रयोग किसी भी ग्रन्थ में 'मागधी भाषा' के जनभाषी रूप या साहित्यिक-रूप के लिए नहीं हुआ है। केवल मूल त्रिपिटक के लिए ही

उसका प्रयोग हुआ है। धीरे-धीरे उस भाषा का ही नाम जिसमें त्रिपिटक लिखे गये थे, पालि हो गया।

३. कुछ लोगों का कथन है कि पालि-भाषा पाटलिपुत्र नगर की भाषा थी। इसे पाटलि भाषा कहा जाने लगा, जो पाटलि के स्थान पर पालि कहलाने लगी।

४. पल्लि संस्कृत में गाँव को कहते हैं जैसे अनकापल्लि। इसलिए इसे गाँव की भाषा या पल्लिभाषा कहा जाता था। इसका अर्थ हुआ गाँव की भाषा या अपरिष्कृत भाषा। धीरे-धीरे यह पालि-भाषा कहलाने लगी।

५. त्रिपिटकों में अनेक स्थानों पर 'बुद्ध-देसना' के अर्थ में धम्म परियाय शब्द मिलता है। सम्राट् अशोक ने भी इसी अर्थ में धम्म पलियाय शब्द अपने शिलालेखों में प्रयुक्त किया है। इसी परियाय का पलियाय हुआ, धीरे-धीरे पलियाय हो गया और अन्त में केवल 'पालि' में परिवर्तित हुआ। पालि का अर्थ है बुद्ध वचन जैसे उदान पालि, दीघनिकाय पालि आदि। श्री ए. वेरियेडल कीथ एवं श्रीमती रायसडेविड्स इस मत से सहमत हैं।

पालि-भाषा की जन्मभूमि—यद्यपि निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि पालि-भाषा भी जन्मभूमि कहाँ है, पर भगवान् बुद्ध ने बोलचाल की मागधी भाषा में उपदेश दिए हैं ओर मगध प्रान्त को ही विशेष रूप से अपना कार्यक्षेत्र रखा है। भगवान् बुद्ध के इसी बोलचाल की भाषा मागधी में प्रचलित संदेश, संवाद एवं उपदेशों को पालि-भाषा में प्रस्तुत किया गया है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि पालि-भाषाकी जन्मभूमि मगध प्रान्त ही है।

पालि-भाषा की उत्पत्ति—पालि-भाषा के शब्दों में अनेकता पाई जाती हैं। इसमें अनेक शब्दों के दो-दो रूप पाए जाते हैं जैसे तृष्णा के लिए तण्हा और तसिना, आर्य के लिए अरिय और अय्य। इससे निष्कर्ष निकलता है कि यह अनेकों बोलियों के संमिश्रण का परिणाम है। ऐसा प्रतीत होता है वैदिक भाषा से प्रसूत हुई मागधी या उसके किसी रूप से यह साहित्यिक भाषा निकली है। पालि में प्राकृतों के लक्षण पाए जाते हैं इससे स्पष्ट है कि यह भाषा संस्कृत से सीधे प्रसूत नहीं हुई है। संस्कृत भाषा के समान यह भी वैदिक संस्कृत से प्रसूत हुई है, यद्यपि उसकी उत्पत्ति वैदिक — संस्कृत — प्राकृत— पालि के क्रम में हुई है।

५. पालि साहित्य का संक्षिप्त परिचय

सामान्य परिचय—पालि भाषा में स्थविरवादी बौद्धधर्म का सम्पूर्ण साहित्य लिखा गया है। भारतवर्ष में बौद्धधर्म के जिन ग्रंथों का प्रणयन हुआ वह तो पालि भाषा में हुआ ही, लंका तथा पूर्वी द्वीपों में भी पालि भाषा में ही बौद्ध धर्म के ग्रन्थ लिखे गए। बौद्धों के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त पालि भाषा में अन्य प्रकार के साहित्य की रचना नहीं हुई।

पालि-साहित्य का प्रणयन ईसा पूर्व चौथी पाँचवीं शताब्दीसे लेकर लगभग अभी तक हुआ है।

पालि-साहित्य प्रमुखतः दो भागों में रखा जा सकता है—प्रथम शास्त्रीय साहित्य (canonical) तथा द्वितीय शास्त्रीय साहित्य से अतिरिक्त साहित्य (non-canonical)। प्रथमभाग में त्रिपिटिक ग्रन्थ आते हैं और द्वितीय भाग में वे ग्रन्थ हैं जो त्रिपिटक ग्रंथों के भाष्य हैं अथवा इन ग्रंथों के आधार पर स्वतंत्र रचनाएँ हैं।

त्रिपिटक—त्रिपिटक का अर्थ है तीन पिटारी। ये तीन ग्रंथ है और बौद्ध धर्म में इनका वही महत्त्व है जो हिन्दू धर्म में वेदों का तथा ईसाई धर्म में बाइबिल का है।

भगवान् बुद्ध ने ८० वर्ष की अवस्था में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था। अतः अपने बुद्धत्व प्राप्त करने की अवस्था ३५वें वर्ष से वे लगातार निर्बाण-प्राप्ति पर्यन्त ४५ वर्ष तक जनसमूह को उपदेश देते रहे। उन्होंने संघ-शासन के नियम बनाए भिक्षु और भिक्षुणियों की जीवनचर्या के विषय में निश्चित नियम रखे। पर भगवान् बुद्ध ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की। अतः उनके निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्यों ने बौद्ध विद्वानों के सम्मेलन बुलाकर उनके उपदेशों का सँग्रह किया। इसी प्रकार के ३ सम्मेलन बुलाए गये। प्रथम सम्मेलन राजगृह में भगवान् बुद्ध के निधन के पश्चात् ही बुलाया गया था। द्वितीय सम्मेलन वैशाली में ३७७ ई० पूर्व बुलाया गया था और तृतीय सम्मेलन पाटलिपुत्र में २५६ ई० पूर्व में हुआ था। इन तीनों सम्मेलनों में ही त्रिपिटकों का स्वरूप निश्चित हुआ है।

त्रिपिटकों के विभाग तथा सामान्य परिचय—तीन पिटकों के नाम हैं—विनय-पिटक सुत्तपिटक और अभिधम्म-पिटक। (१) विनय-पिटक—इस

ग्रन्थ में संघशासन के नियम अनुशासन के नियम भिक्षु तथा भिक्षुणियों की जीवनचर्या आदि का वर्णन है। (२) सुत्तपिटक—इस ग्रन्थ में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है। यहाँ सुत्त का अर्थ है सिद्धान्त। संस्कृत शब्द सूत्र के अर्थ में सुत्त का प्रयोग नहीं हुआ है। (३) अभिधम्मपिटक—इसमें भी धर्म के तथा नैतिक नियमों के वर्णन है।

विनय-पिटक—इस ग्रन्थ के ३ भाग हैं (१) सुत्त-विभंग, (२) खन्धक और (२) परिवार।

(१) **सुत्त-विभंग**—का अर्थ है सुत्तों का सरलार्थ। इसकी सहायता से पातिमोक्ख को जिसमें २२७ बातें हैं, हम समझ सकते हैं। प्रति अमावस्या तथा पूर्णिमाको भिक्षु और भिक्षुणियों के बीचमें इसे पढ़ा जाता था और उनसे पूछा जाता था कि उनमें से कोई पातिमोक्ख में वर्णित किसी दोष से दूषित तो नहीं है। जिस भिक्षु या भिक्षुणी को दोष स्वीकार होता था, उसे दण्ड दिया जाता था। ये दोष दो श्रेणियों में विभक्त थे—पाराजिक तथा पाचित्तिय।

(२) **खन्धक**—इसका दो अंगों में विभाजन है—महावग्ग और चुल्लवग्ग।

महावग्ग में धर्म में प्रवेश के नियम उपोसथ संस्कार की विधि यात्रा एवं निवास के नियम भिक्षुओं के लिए औषधियाँ एवं बेषभूषा का वर्णन है।

चुल्लवग्ग के प्रथम ९ वर्गों में अनुशासन के नियम या और उनके प्रायश्चित निवास और निवासों की व्यवस्था भिक्षुओं के परस्पर के कर्तव्य तथा पातिमोक्ख के सम्बन्ध में वर्णन है। दसवें वर्ग में भिक्षुणियों के कर्त्तव्य का वर्णन है। ग्यारहवें तथा बारहवें वर्ग में राजगृह तथा वैशाली के सम्मेलनों का उल्लेख है।

(३) **परिवार**—इसमें १९ वर्ग हैं। यह विनयपिटक में संग्रहीत बातों की संक्षिप्त पुस्तक है।

सुत्तपिटक—इस ग्रन्थ के ५ भाग हैं जिन्हे निकाय कहते हैं। (१) दीघ-निकाय (२) मज्झिमनिकाय (३) संयुत्तनिकाय (४) अंगुत्तरनिकाय और (५) खुद्दकनिकाय।

खुद्दकनिकाय में १५ ग्रन्थ हैं (१) खुद्दकपाठ (२) धम्मपद (३) उदान (४) इतिवुत्तक (५) सुत्तनिपात (६) विमानवत्थु (७) पेतवत्थु (८)

थेरगाथा (९) थेरीगाथा (१०) जातक (११) निद्देस (१२) पटिसम्भिदा मग्ग (१३) अपदान (१४) बुद्धवंश और (१५) चरियापिटक।

दीघनिकाय—इसमें बड़े-बड़े सुत्त हैं तथा प्रत्येक में बौद्धधर्म के सिद्धान्त पर चर्चा की गई है। इन सुत्तों में महापरिनिब्बानसुत्त प्रमुखतम है। इस सुत्त में बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की चर्चा नहीं है, पर भगवान् बुद्ध के अन्तिम जीवन, अन्तिम उपदेश एवं निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन है। भगवान् बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में यह प्रामाणिक ग्रन्थ है। दीघनिकाय में इस सुत्त के अतिरिक्त ब्रह्मजाल तथा महानिदान सुत्त भी प्रधान हैं।

मज्झिमनिकाय—इसमें धर्म के सम्बन्ध में अनेकों संवाद एवं वर्णन हैं। बौद्धधर्म के चारों आर्य सत्य, कर्मसिद्धान्त, तृष्णा की निस्सारता, निर्वाण; समाधि के विविध प्रकार आदि का वर्णन इसमें किया गया है। अनेकों गाथाओं की सहायता से इन धार्मिक बातों को समझाया गया है।

संयुत्तनिकाय—इसमें सुत्तों के समूह हैं और इन सुत्तों के समूहों में विशेष विषयों का वर्णन है। इनमें प्रमुखतम सुत्त धम्मचक्कपवत्तनसुत्त है। इसमें भगवान् बुद्ध के प्रथम प्रवचन का वर्णन है।

अंगुत्तरनिकाय—इसमें सुत्तों का क्रम, बढ़ती हुई संख्या के अनुसार रखा गया है। सर्वप्रथम वे सुत्त हैं जिनमें एक संख्यावाली वस्तुओं का वर्णन है,फिर वे सुत्त हैं जिनमें दो संख्यावाली वस्तुओं का वर्णन है—इसी प्रकार तीन, चार, पाँच संख्यावाली वस्तुओं के वर्णन करनेवाले सुत्त रखे गये हैं।

खुद्दकनिकाय—इसमें १५ छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं। खुद्दकपाठ में बौद्धधर्म के प्रारम्भिक पाठ हैं। धम्मपद में नैतिक शिक्षाएँ हैं। उदान में भगवान् बुद्ध के उपदेश हैं। इतिवुत्तक में भी भगवान् बुद्ध के उपदेश हैं। सुत्तनिपात में बौद्धधर्म की शिक्षाएँ और भगवान् बुद्ध के द्वारा दिये गये शिष्यों के प्रश्नों के उत्तर हैं। विमानवत्थु में दिव्य प्रासादों का वर्णन है। पेतवत्थु में प्रेतात्माओं का वर्णन है। थेरगाथा में भिक्षुओं के गीत हैं। ये आध्यात्मिक हैं। थेरीगाथा में भिक्षुणियों के गीत हैं। ये सभी आध्यात्मिक हैं। जातक में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त है। निद्देस में सुत्तनिपात पर रचित सारिपुत्त की टीका है। पटिसम्भिदामग्ग में अर्हत् किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है—इसका वर्णन है। अपदान में बौद्ध अर्हतों के द्वारा महान् कार्यों के किये जाने का वर्णन है। बुद्धवंश में भगवान् बुद्ध द्वारा वर्णित २४ बुद्धों का इतिहास है। चरियापिटक

में भगवान् बुद्ध ने वर्णन किया है कि उसने किस प्रकार अपने पूर्ववर्ती जीवनों में दस पारमिताओं को प्राप्त किया था।

अभिधम्मपिटक—इस गन्थ के ७ भाग हैं (१) धम्मसंगणि (२) विभंग (३) कथावत्थु (४) पुग्गलपञ्ञत्ति (५) धातुकथा (६) यमक और (७) पट्ठान।

धम्मसंगणि में मनोविज्ञान की चर्चा है।

विभंग में भी मनोविज्ञान की चर्चा है।

कथावत्थु—इस ग्रन्थ में बौद्धधर्म का इतिहास है। इसमें दर्शन की विभिन्न धाराओं का वर्णन और निराकरण किया गया है।

पुग्गलपञ्ञत्ति—इसमें व्यक्तियों का वर्णन प्रश्न एवं उत्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

धातुकथा में तत्त्वों का वर्णन है।

यमक में विधि तथा निषेधवाले दो प्रकार के प्रश्नों का वर्णन है।

पट्ठान में अनेक बातों का वर्णन पाया जाता है। यह एक बड़ा ग्रन्थ है।

त्रिपिटक साहित्य के ऊपर बुद्धघोष, धम्मपाद आदि विद्वान् आचार्यों के द्वारा लिखी हुई अट्ठकथा नाम टीकाएँ हैं, जिन पर फिर अनुटीका आदि का निर्माण होने से 'अनुपिटक साहित्य' नामक विशाल टीका साहित्य की सृष्टि हो गई है।

उपर्युक्त साहित्य-सम्पत्ति के अतिरिक्त बुद्धप्पिय का पज्जमधु, सिद्धत्थ का सारसंगहो, धम्मकित्ति महासामि का सद्धम्मसंगहो, अरिय बंस के मणिसार-मंजुसा और मणिदीप, सद्धम्मपालसिरी का नेत्तिभावनी, तिपिटालंकार का वीसतिवण्णन और महाकस्सप का अभिधम्मत्थगन्थिपाद उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

व्याकरण के क्षेत्र में कच्चायन के व्याकरण के समान बालावतार और रूपसिद्धि सदृश पुस्तकें लिखी गईं। मोग्गल्लान की प्रसिद्ध व्याकरण तथा व्याकरण सम्बन्धी अन्य पुस्तकों का प्रणयन भी इसी काल में हुआ।

शब्दकोशों में संस्कृत अमरकोश की शैली पर मोग्गल्लान ने अभिधानप्प-दीपिका नामक शब्दकोश प्रस्तुत किया। इसी प्रकार ब्रह्मदेश के एक बौद्ध-भिक्षु के द्वारा एकाक्षर कोश नाम का कोश-ग्रन्थ रचा गया।

—कन्छेदीलाल गुप्त

विषय-सूची

---: o :---

॥ श्रीः ॥

धम्मपदं

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

यमकवग्गो पठमो

[यमकवर्गः प्रथमः]

स्थान	पात्र
सावत्थी	चक्खुपाल थेर

१—मनोपुब्बङ्गमा धम्मा[1] मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व वहतो पदं ॥ १ ॥
[मनःपूर्वङ्गमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रदुष्टेन भाषते वा करोति वा।
तत एनं दुःखमन्वेति चक्रमिव वहतः पदम् ॥ १ ॥]

सारे कार्यों का आरम्भ मन से होता है। मन श्रेष्ठ है। सारे कार्य मनोमय होते हैं। मनुष्य यदि दुष्ट मन से बोलता है या कार्य करता है तो दुःख इसका पीछा करता है जैसे कि चक्र बैल के पैर का पीछा करता है ॥ १ ॥

---

१. बौद्ध शास्त्रों में 'धम्म' या 'धर्म' शब्द के कई एक अर्थ और व्याख्यान मिलते हैं। यहाँ 'धम्म' शब्द का कौन-सा अर्थ उपयोगी है इसके बारे में विद्वानों का बड़ा ही मतभेद है। टीकाकार बुद्धघोष तथा प्राचीन

सावत्थी मट्टकुण्डली

२—मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा।
ततो नं सुखमन्वेति छाया व अनपायिनी ॥ २ ॥

[मनःपूर्वङ्गमा धर्मा मनःश्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रसन्नेन भाषते वा करोति वा।
तत एनं सुखमन्वेति छायेवानपायिनी ॥ २ ॥]

सारे कार्यों का आरम्भ मन से होता है, मन श्रेष्ठ है। सारे कार्य मनोमय होते हैं। मनुष्य यदि प्रसन्न मन से बोलता है या कार्य करता है तो सुख इसका पीछा करता है जैसे कि छाया मनुष्य का पीछा करती है और उसे छोड़ती नहीं है ॥ २ ॥

शास्त्रपरम्परा के अनुसार 'वेदना', 'संज्ञा' और 'संस्कार' ये तीन खन्ध (सं० स्कन्ध) को ही 'धम्म' शब्द का तात्पर्य मानना सङ्गत है। 'मन' या 'चित्त' 'विज्ञान' नामक स्कन्ध होते हैं। उपर्युक्त अर्थ के अनुसार गाथा का अनुवाद ऐसा होगा कि—'वेदना, संज्ञा और संस्कार ये तीन स्कन्ध विज्ञानस्कन्ध के अनुसारी हैं, उसके अधीन हैं और उसके द्वारा नियन्त्रित हैं'। बुद्धघोष इस गाथा की टीका में लिखते हैं; "न हि ते मने अनुपज्जन्ते उप्पज्जितुं सक्कोन्ति। मनो पन एकच्चेसु चेतिसिकेसु अनुपज्जन्तेसु पि उप्पज्जति येव। अधिपतिवसेन पन मनो सेट्ठो एतेसंति मनोसेट्ठा,………।" लेकिन शास्त्रीय पारिभाषिक अर्थ को छोड़ कर 'मन' का अर्थ संकल्पमूलक भावना और 'धर्म' का अर्थ वस्तुस्थिति ऐसा ही लिया जाय तो, इस गाथा की व्याख्या में बुद्धघोष द्वारा दी गई कहानी से सामञ्जस्य हो सकता है जो कि फज़बोल, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों का भी सम्मत है। 'मन' अर्थात् भावना ही मनुष्यों का सुख तथा दुःख का हेतु होती है यह सिद्धान्त तो आर्षशास्त्र के द्वारा भी समर्थित है। देखिए—मैत्रायणी उपनिषद् (४।११)—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" आदि।

जेतवन (सावत्थी) थुल्लतिस्स थेर

३—अक्कोच्छि[1] मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये च[2] तं उपनय्हन्ति[3] वेरं तेसं न सम्मति ॥ ३ ॥
[अक्रुक्षन् मामवधीन्मामजैषीन् मामहार्षीन् मे ।
ये च तदुपनह्यन्ति वैरं तेषां न शाम्यति ॥ ३ ॥]

उसने मुझे अपशब्द कहे, उसने मुझे मारा, उसने मुझे हराया और उसने मेरा धन हरण किया। जो ऐसे विचारों को मन में रखते हैं, उनका वैर शान्त नहीं होता ॥ ३ ॥

४—अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे ।
ये तं न उपनय्हन्ति[4] वेरं तेसूपसम्मति ॥ ४ ॥
[अक्रुक्षन् मामवधीन्मामजैषीन् मामहार्षीन् मे ।
ये तन्नोपनह्यन्ति वैरं तेषूपशाम्यति ॥ ४ ॥]

---

१. अक्कोच्छि—'कुस' धातु + भूतकाल (अज्जतनो = सं० लुङ्, प्रथमपुरुष एकवचन)। यहाँ स्वाभाविक रूप 'अक्कोसि' है। किन्तु 'कुसरुहेहिस्सछि' (मोग्गल्लान ६.३४) इस सूत्र के अनुसार 'ई' के स्थान पर छि आदेश हो जाता है और 'अक्कोच्छि' यह वैकल्पिक रूप सिद्ध होता है। 'अक्कोच्छि' पद कई एक पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार संस्कृत 'क्रुध' धातु से निष्पन्न अक्रोधीत् के ऊपर आधारित है, किन्तु यह सिद्धान्त भ्रमात्मक है, क्योंकि कच्चायन, मोग्गल्लान आदि पाली वैयाकरण जो 'कुस' ('कुस अक्कोसे आह्वाने च' मोग्गल्लान धातुपाठ २५१) से 'अक्कोच्छि' पद को सिद्ध करते हैं उसके साथ क्रोध धातु का कोई अर्थगत सम्बन्ध नहीं स्वीकार किया जा सकता है। उसका सम्बन्ध संस्कृत 'क्रुश्' धातु (क्रुश आह्वाने रोदने च—पा. ८५६) से ही बन सकता है। पाश्चात्य विद्वानों के उपर्युक्त अनुमान का कारण कच्चायन व्याकरण के 'कुसस्मादीच्छि' (३।४।९७) सूत्र का सेनार्ट कृत संस्करण में उपलब्ध 'कुधस्मादीच्छि' ऐसा पाठभेद है।

२. सिंहलदेशीय पाठ में 'च' नहीं है, किन्तु छन्द की दृष्टि से 'च' रहना चाहिए।

३. 'नह' धातु का मूल अर्थ है बाँधना। 'नह बन्धने' मोग्गल्लान धातुपाठ ३७९ (सं० णह बन्धने—पा. ११६६)।

४. पाठान्तर—ये च तं नुपनय्हन्ति।

उसने मुझे अपशब्द कहे, उसने मुझे मारा, उसने मुझे हराया और उसने मेरा धन हरण किया। जो ऐसे विचारों को मन में नहीं रखते हैं, उनमें वैर शान्त हो जाता है ॥ ४ ॥

जेतवन (सावत्थी) कालियक्खिनी

५—न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो ॥ ५ ॥
[न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥]

वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता। अवैर से शान्त होता है। यह सनातन धर्म है ॥ ५ ॥

जेतवन (सावत्थी) कोसम्बक भिक्खु

६—परे च न विजानन्ति मयमेत्थ यमामसे[१]।
ये च तत्थ विजानन्ति ततो सम्मन्ति मेधगा ॥ ६ ॥
[परे च न विजानन्ति वयमत्र यंस्यामः।
ये च तत्र विजानन्ति ततः शाम्यन्ति मेधगाः[२] ॥ ६ ॥]

कुछ लोग नहीं जानते हैं कि हम संसार से मृत्यु को प्राप्त हो जावेंगे। और जो, यह जान लेते हैं उनके कलह शान्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

सावत्थी चुल्लकाल, महाकाल

७—सुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु असंवुतं।
भोजनम्हि अमत्तञ्ञुं कुसीतं[३] हीनवीरियं[४]।

---

१. 'यमामसे' पद की संस्कृत छाया में जो 'यंस्यामः' लिखा गया है वह केवल अर्थपरक है, भाषाविज्ञान-सम्मत छाया नहीं। यह पद वस्तुतः वैदिक लेट् प्रयोग का अनुकरण है। देखिये, मैक्समूलर का संस्करण (टिप्पणी)।

२. 'मेधग' ऐसा एक पालि शब्द है जिसका संस्कृत मूल दुष्प्राप्य हो गया है।

३. संस्कृत ग्रन्थों में 'कुसीद' शब्द का 'अलस' या 'प्रमादी' ऐसा अर्थ नहीं मिलता है। वहाँ तो इस शब्द का अर्थ है 'वृद्धि' (सूद)। पालि शास्त्रों में जो 'अलस' के लिए 'कुसित' का प्रयोग उपलब्ध है उसी के आधार पर अर्वाचीन बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में 'अलस' (प्रमादी) अर्थ के लिए 'कुसीद' शब्द प्रयोग किया गया है। वस्तुतः पालि 'कुसीत' शब्द का संस्कृत मूल रूप 'कुसीद' ही है या दूसरा कोई शब्द, यह अभी तक अनुसन्धेय है।

४. संस्कृत वीर्य शब्द के पालि रूप 'वीरिय' और 'विरिय' दो ही उपलब्ध

तं वे पसहति मारो वातो रुक्खं[1] व दुब्बलं ॥ ७ ॥
[शुभमनुपश्यन्तं विहरन्तमिन्द्रियेषु असंवृतम् ।
भोजने अमात्राज्ञं कुसीदं हीनवीर्यम् ।
तं वै प्रसहते मारो वातो वृक्षमिव दुर्बलम् ॥ ७ ॥]

जो मनुष्य अच्छी वस्तुओं को देखता हुआ विहार करता रहता है, इन्द्रियों में असंयत रहता है, भोजन में परिमाण को नहीं जानता है और जो प्रमादी तथा वीर्यविहीन है, उसे मार इस प्रकार गिरा देता है जिस प्रकार हवा दुर्बल वृक्ष को गिरा देती है ॥ ७ ॥

८—असुभानुपस्सिं विहरन्तं इन्द्रियेसु सुसंवुतं ।
भोजनम्हि च मत्तञ्ञुं सद्धं आरद्धवीरियं ।
तं वे नप्पसहति मारो[2] वातो सेलं व पब्बतं ॥ ८ ॥
[अशुभमनुपश्यन्तं विहरन्तं इन्द्रियेषु सुसंवृतम् ।
भोजने च मात्राज्ञं श्रद्धमारब्धवीर्यम् ।
तं वै न प्रसहते मारो वातः शैलमिव पर्वतम् ॥ ८ ॥]

जो मनुष्य अच्छी वस्तुओं को न देखता हुआ विहार करता है, इन्द्रियों में सुसंयत रहता है, भोजन में परिमाण को जानता है और जो श्रद्धायुक्त तथा वीर्यवान् है, उसे मार इस प्रकार नहीं गिरा सकता जिस प्रकार हवा पर्वत को नहीं गिरा सकती है ॥ ८ ॥

हैं। (देखिये—सहस्सवग्गो, १३) ।

१. रुक्खं = वृक्षम् । प्राकृतप्रकाश १।३१ ।

२. 'मार' बौद्धशास्त्र में प्रसिद्ध साधुओं का प्रलोभक अधम देवयोनि-विशेष है, जैसे यहूदी शास्त्र में 'दियाबल' या शैतान । आर्ष शास्त्रों में देखा जाता है देवताओं के हित के लिए अप्सराएँ तपस्वियों को प्रलोभन देती थीं किन्तु वहाँ शैतान या मार की कल्पना नहीं है। यहूदी शास्त्र के अनुसार शैतान (दियाबल) जो मनुष्यों को प्रलोभन देता था उसका कारण था श्रीभगवान् के साथ उसकी कट्टर शत्रुता । किन्तु मार के दुष्ट कर्मों के किसी उद्देश्य का वर्णन बौद्धशास्त्र में नहीं किया गया है ।

जेतवन (सावत्थी) देवदत्त

९—अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदहेस्सति ।
अपेतो दमसच्चेन न सो कासावमरहति[1] ॥ ९ ॥
[अनिष्कषायः काषायं यो वस्त्रं परिधास्यति ।
अपेतो दमसत्याभ्यां न स काषायमर्हति ॥ ९ ॥]

जो मलयुक्त है और काषाय वस्त्र धारण करता है, इन्द्रिय-दमन तथा सत्य से दूर हुआ वह मनुष्य काषाय धारण के योग्य नहीं है ॥ ९ ॥

१०—यो च वन्तकसावस्स सीलेसु[2] सुसमाहितो ।
उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति ॥ १० ॥
[यश्च वान्तकषायः स्यात्[3] शीलेषु सुसमाहितः ।
उपेतो दमसत्याभ्यां स वै काषायमर्हति ॥ १० ॥]

जो मल-विहीन है, शील में जो रत है और जो इन्द्रिय-दमन तथा सत्य से युक्त है, वह मनुष्य कषाय धारण के योग्य है ।। १० ॥

वेणुवन (राजगह) संजय (अग्गसावक)

११—असारे[4] सारमतिनो सारे चासारदस्सिनो ।

---

१. महाभारत (शान्ति पर्व १८।३।४) में भी ऐसा श्लोक मिलता है—
"अनिष्काषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम् ।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः ॥
(फज़्बोल द्वारा उद्तधृ)

२. टीकाकारों के मतानुसार यहाँ 'सील' शब्द से 'चातुपारिसुद्धिसील' अर्थात् पातिमोक्खसंवरसील, इन्द्रियसंवरसील, आजीवपारिसुद्धिसवरसील और पच्चयसन्निस्सितसंवरसील ये चार शील समझे जाते हैं। [मज्झिमनिकाय]

३. 'वन्तकसावस्स' पद की संस्कृत छाया में 'वान्तकषायः स्यात्' लिखना (राहुल सांकृत्यायन, चारुचन्द्र वसु आदि विद्वानों ने ऐसा ही लिखा है) क्लिष्ट है । वस्तुतः यहाँ स्पष्टतया षष्ठी (या चतुर्थी) विभक्ति है जो गाथा के अन्वय के साथ बैठती नहीं ।

४. सार शब्द की व्याख्या में प्राचीन और नवीन व्याख्याकारों का बड़ा ही मतभेद है । प्राचीन बौद्धपरम्परा के अनुसार 'सार' छः प्रकार का होता है—जैसे—शीलसार, समाधिसार, प्रज्ञासार, विमुक्तिसार, विमुक्तिज्ञान-

ते सारं नाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचरा[1] ॥ ११ ॥
[असारे सारमतयः सारे चासारदर्शिनः ।
ते सारं नाधिगच्छन्ति मिथ्यासङ्कल्पगोचराः ॥ ११ ॥]

जो असार में सार की बुद्धि रखते हैं और सार में असार को देखनेवाले होते हैं, मिथ्या संकल्पों को देखनेवाले वे लोग सार को प्राप्त नहीं करते हैं ॥११॥

१२—सारं च सारतो ञत्वा असारं च असारतो ।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासंकप्पगोचरा ॥ १२ ॥
[सारञ्च सारतो ज्ञात्वा असारञ्च असारतः ।
ते सारमधिगच्छन्ति सम्यक्सङ्कल्पगोचराः ॥ १२ ॥]

जो सार से सार को तथा असार से असार को जानते हैं, सम्यक् संकल्पों को देखनेवाले वे लोग सार को प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

जेतवन (सावत्थी) नन्दथेर

१३—यथा अगारं[2] दुच्छन्नं वुट्ठि[3] समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥ १३ ॥
[यथागारं दुश्छन्नं वृष्टिः समतिविध्यति ।
एवमभावितं चित्तं रागः समतिविध्यति ॥ १३ ॥]

दर्शनसार और परमार्थसार । किन्तु अनेक विद्वान् व्याख्याकारों के मतानुसार 'सार' का अर्थ है 'सत्य' और 'असार' का अर्थ है असत्य । धम्मपद के चीनी अनुवाद में 'सार' शब्द के स्थान पर जो 'चिन्' शब्द मिलता है उसका आक्षरिक अर्थ सत्य ही होता है, जिसका अनुवाद सैमुयेल बील ने "Truth" शब्द द्वारा ही किया, (देखिए बील का अनुवाद नवीन संस्करण, पृ० ३४) फज़्बोल के मतानुसार 'सार' शब्द का अर्थ है किसी पदार्थ की 'मूलभूत स्थिर वस्तु' (L. Essentia; देखिए फज़्बोल कृत लातिन अनुवाद)। वस्तुतः यहाँ मैक्समूलर का अभिप्राय सबसे सङ्गत और सर्वव्यापक है, जो कहते हैं, '......दार्शनिक दृष्टि से सार का अर्थ 'चरमसत्ता' (The highest reality) और नैतिक दृष्टि से इसका अर्थ सत्य ही होता है' ।

१. शास्त्रीय व्याख्यान के अनुसार मिथ्यासंकल्प के भी कई प्रकार होते हैं।

२. यथागारं—पाठान्तर ।

३. वुट्ठी—पाठान्तर ।

जिस प्रकार वर्षा ठीक न छाये गये मकान में प्रवेश कर लेती है, उसी प्रकार राग असंस्कृत चित्त में प्रवेश कर लेता है ॥ १३ ॥

१४—यथा अगारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्झति ।
एवं सुभावितं[1] चित्तं रागो न समतिविज्झति ॥ १४ ॥
[यथागारं सुच्छन्नं वृष्टिर्न समतिविध्यति ।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविध्यति ॥ १४ ॥]

जिस प्रकार वर्षा ठीक छाये गये मकान में प्रवेश नहीं कर सकती है, उसी प्रकार राग सुसंस्कृत चित्त में प्रवेश नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

वेणुवन (राजगह) चुन्दसुकोरिक

१५—इध सोचति पेच्च[2] सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति ।
सो सोचति सो विहञ्ञति दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो ॥१५॥
[इह शोचति प्रेत्य शोचति पापकारी उभयत्र शोचति ।
स शोचति स विहन्यते दृष्ट्वा कर्मक्लिष्टमात्मनः ॥१५॥]

यहाँ शोक करता है, परलोक में शोक करता है, पाप करनेवाला दोनों लोक में शोक करता है। वह अपने कुत्सित कर्म को देखकर शोक करता है और दुःखित होता है ॥ १५ ॥

जेतवन (सावत्थी) धम्मिक उपासक

१६—इध मोदति पेच्च मोदति कतपुञ्ञो उभयत्थ मोदति ।
सो मोदति सो पमोदति दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥१६॥
[इह मोदते प्रेत्य मोदते कृतपुण्य उभयत्र मोदते ।
स मोदते स प्रमोदते दृष्ट्वा कर्मविशुद्धिमात्मनः ॥१६॥]

यहाँ आनन्दित होता है, परलोक में आनन्दित होता है, पुण्य करने वाला दोनों लोकों में आनन्दित होता है। वह अपने विशुद्ध कर्मों को देखकर आनंदित होता है और प्रमोद करता है ॥ १६ ॥

जेतवन (सावत्थी) देवदत्त

१७—इह तप्पति पेच्च तप्पति पापकारी उभयत्थ तप्पति ।
पापं मे कतं ति तप्पति भिय्यो[3] तप्पति दुग्गतिं गतो ॥१७॥

---

१. 'अभावित' और 'सुभावित' इन दोनों शब्दों का विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ बौद्धशास्त्र में उपलब्ध है।

२. पच्च—सिंहलदेशीय पाठान्तर। ३. भीय्यो, भीयो—पाठान्तर।

[इह तप्यति प्रेत्य तप्यति पापकारी उभयत्र तप्यति ।
पापं मया कृतमिति तप्यति भूयस्तप्यति दुर्गतिं गतः ॥१७॥]

यहाँ सन्तप्त होता है, परलोक में सन्तप्त होता है, पाप करने वाला दोनों लोकों में सन्तप्त होता है। मैंने पाप किया है—ऐसा विचार कर सन्तप्त होता है। दुर्गति को प्राप्त हुआ वह बार-बार सन्तप्त होता है ॥ १७ ॥

जेतवन (सावत्थी) सुमना देवी

१८—इध नन्दति पेच्च नन्दति कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति ।
पुञ्ञं मे कतं ति नन्दति भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो ॥१८॥
[इह नन्दति प्रेत्य नन्दति कृतपुण्य उभयत्र नन्दति ।
पुण्यं मया कृतमिति नन्दति भूयो नन्दति सुगतिं गतः ॥१८॥]

यहाँ आनन्दित होता है, परलोक में आनन्दित होता है, पुण्य करने वाला दोनों लोकों में आनन्दित होता है। मैंने पुण्य किया है—ऐसा विचार कर आनन्दित होता है। सद्गति को प्राप्त हुआ वह बार-बार आनन्दित होता है ॥१८॥

जेतवन (सावत्थी) द्वे सहायक भिक्खु

१९—बहुं पि चे संहितं[1] भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो ।
गोपो व गावो गणयं परेसं न भागवा सामञ्ञस्स होति ॥१९॥
[बहुमपि चेत् संहितां भाषमाणो
न तत्करो भवति नरः प्रमत्तः ।
गोप इव गा गणयन् परेषां
न भागवान् श्रामण्यस्य भवति ॥ १९ ॥]

यदि शास्त्रों का बहुत भाषण करता हुआ मनुष्य प्रमादी होकर उस पर आचरण करने वाला नहीं होता, तो वह दूसरों की गायों को गिनने वाले ग्वाल के समान होता है। वह श्रमण बनने का भागीदार नहीं होता ॥१९॥

२०—अप्पं पि चे संहितं भासमानो
धम्मस्स होति अनुधम्मचारी ।

---

१. यहाँ 'सहितं' यह एक पाठान्तर मिलता है जो कि पाश्चात्य विद्वानों का सम्मत है। किन्तु टीकाकार के मतानुसार यहाँ 'संहितं' पाठ ही अधिक संगत प्रतीत होता है। 'संहितं' शब्द की टीका में '......व तेपिटकस्स बुद्धवचनस्सेतं नामं' ऐसा कहा गया है।

राग च दोसं च पहाय मोहं
　　सम्मप्पजानो　　सुविमुत्तचित्तो ।
अनुपादियानो[1] इध वा हुरं[2] वा
　　स भागवा सामञ्ञस्स　होति ॥ २० ॥

[अल्पामपि चेत् संहितां भाषमाणो धर्मस्य भवत्यनुधर्मचारी ।
रागञ्च द्वेषञ्च प्रहाय मोहं सम्यक्प्रज्ञानः सुविमुक्तचित्तः ।
अनुपाददानः इह वा परत्र वा स भागवान् श्रामण्यस्य भवति ॥२०॥]

यदि शास्त्रों का थोडा भी भाषण करता हुआ मनुष्य धर्म का उसके अनुसार आचरण करता है; राग, द्वेष और मोह का परित्याग करता है; सम्यक् प्रज्ञायुक्त हुआ चिन्ताविहीन चित्तवाला होता है तथा इहलोक व परलोक में आसक्तिरहित होता है, वह श्रमण बनने का भागीदार होता है ॥ २० ॥



---

१. अनुपादियानो (अनुपाददानः) शब्द का यह पारिभाषिक अर्थ है कि 'उपादान' नामक चतुर्थ निदान को जिसने छोड़ दिया है। तुलना कीजिए– सुत्तनिपात, (सुन्दरिकभारद्वाजसूत्तं—

"यम्हि न माया वसति न मानो यो वीतलोभो अममोनिरासे ।
पनुण्णकोधो अभिनिब्बुतत्तो यो ब्राह्मणो सोकमलं अहासि ।
तथागतो अरहति पूरळासं" ॥ ६७ ॥
"निवेसनं यो मनसो अहासि परिग्गहा यस्य न सन्ति केचि ।
अनुपादियानो इध वा हुरं वा, तथागतो अरहति पुरोळासं ॥ ६८ ॥

२. 'हुरं' पद का मूल संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु पालिवाङ्मय में इस शब्द का बहुल प्रयोग दिखाई पड़ता है।

अप्पमादवग्गो दुतियो

[अप्रमादवर्गः द्वितीयः]

घोसिताराम (कोसाम्बी) सामावती

२१—अप्पमादो[1] अमतपदं[2] पमादो मच्चुनो पदं ।
अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता[3] ॥ १ ॥
[अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम् ।
अप्रमत्ता न म्रियन्ते ये प्रमत्ता यथा मृताः ॥ १ ॥]

अप्रमाद अमृत का पद है, प्रमाद मृत्यु का पद है। प्रमाद न करनेवाले मरते नहीं हैं और जो प्रमाद करने वाले हैं वे मरे हुओं के समान हैं ॥ १ ॥

२२—एतं विसेसतो ञत्वा अप्पमादम्हि पण्डिता ।
अप्पमादे पमोदन्ति अरियानं गोचरे रता ॥ २ ॥
[एतं विशेषतो ज्ञात्वा अप्रमादे पण्डिताः ।
अप्रमादे प्रमोदन्त आर्याणां गोचरे रताः ॥ २ ॥]

---

१. धम्मपद की प्राचीन और नवीन व्याख्याओं में 'अप्पमाद' शब्द के तात्पर्य के बारे में विशेष मतभेद दिखाई पड़ता है । इसका अर्थ 'सावधानता' (Vigilantia फज़बोल) 'धम्म' 'परिश्रम' आदि माना गया है । प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में अनुवादकर्ता इसका अर्थ 'अप्रमाद' कह कर छोड़ गए हैं । 'प्रमाद' शब्द का 'आलस्य' यह अर्थ वैदिक वाङ्मय में भी उपलब्ध है (उदा० सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्, तै. उ. १।१०) । बौद्धशास्त्र में इस शब्द का जो शास्त्रीय और पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग उपलब्ध है तदनुसार कहा जा सकता है कि 'अप्पमाद' अध्यात्मतत्त्व में प्रवेश का पहला द्वार है, सभी धर्मों का यह मूलभूत है (ये केचि कुसला धम्मा सब्बे ते अप्पमादमूलका—टीका) । [मैक्समूलर] ।

२. बुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार 'अमत' (अमृत') शब्द का अर्थ है निर्वाण ।

३. देखिए महाभारत के अन्तर्गत सनत्सुजातीय—
उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्ते मोहो मृत्युः सम्मतो यः कवीनाम् ।
प्रमादं वे मृत्युमहं ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥ १।४॥

पण्डित लोग इस अप्रमाद को विशेष रूप से जानकर अप्रमाद में आनन्दित होते हैं और आर्यों के ज्ञान में लगे रहते हैं ।। २ ।।

२३ ते झायिनो साततिका निच्चं दळ्हपरक्कमा[1] ।
फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खेमं[2] अनुत्तरं ।। ३ ।।
[ते ध्यायिनो सततं नित्यं दृढपराक्रमाः ।
स्पृशन्ति धीरा निर्वाणं योगक्षेममनुत्तरम् ।। ३ ।।]

जो लोग सदैव ध्यान करने वाले हैं, नित्य दृढ़ पराक्रम करने वाले हैं, वे धैर्यशाली लोग उत्तम कल्याण के स्वरूप निर्वाण का स्पर्श करते हैं ।। ३ ।।

वेणुवन (राजगह) कुम्भघोसक

२४—उट्ठानवतो सतिमतो[3] सुचिकम्मस्स निसम्मकारिनो ।
सञ्ञतस्स च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसोऽभिवड्ढति ।। ४ ।।
[उत्थानवतः स्मृतिमतः शुचिकर्मणो निशम्यकारिणः ।
संयतस्य च धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोऽभिवर्धते ।। ४ ।।]

जो मनुष्य उत्थानशील है, स्मृतिमान् है, पवित्र कार्य करने वाला है, विचार पूर्वक कार्य करता है, संयतयुक्त है, धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करता है तथा प्रमाद रहित है, उसका यश बढ़ता है ।। ४ ।।

वेणुवन (राजगह) चुल्लपन्थक थेर

२५—उट्ठानेनप्पमादेन संयमेन दमेन च ।
दीपं[4] कयिराथ मेधावी यं ओघो नाभिकीरति ।। ५ ।।

---

१. 'ड' के स्थान पर ळ और 'ढ' के स्थान पर 'ळ्ह' होना एक प्राचीन वैदिक उच्चारण रीति है । ''अज्मध्यस्य'ड'कारस्य 'ळकारं' बह्वृचो जगुः । अज्मध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं वै यथाक्रमम् ।।' उदाहरण ''अग्निमीळे पुरोहितं'' (ऋ. सं. १।१।१), ''पृथिवी च दृळ्हा'' (ऋ. स. १०।१२।१।५) ।

२. आर्षशास्त्रों में योगक्षेम शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ आध्यात्मिक सम्पत् के अर्थ में होता है, देखिए—कठोपनिषत् २।२—'प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।' श्रीमद्भगवद्गीता, ९।२२-'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' । पाश्चात्य विद्वान् चाइल्डार्स के मतानुसार यहाँ निब्बाण शब्द का अर्थ है 'अर्हत्त्व' ।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—सतीमतो ।

४. चाइल्डार्स के मतानुसार यहाँ 'द्वीप' शब्द का तात्पर्य होता है अर्हत्त्व-फल, जिसको काम, भव आदि प्रवाह घेर नहीं सकते ।

[उत्थानेनाप्रमादेन संयमेन दमेन च।
द्वीपं कुर्वीत मेधावी यमोघो नाभिकिरति ॥ ५ ॥]

मेधावी मनुष्य उत्थान, अप्रमाद, संयम और दमन के द्वारा अपने आपको द्वीप बना ले, जिसे जल का प्रवाह घेर नहीं सकता ॥ ५ ॥

२६—पमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुम्मेधिनो जना।
अप्पमादं च मेधावी धनं सेट्ठं व रक्खति ॥ ६ ॥
[प्रमादमनुयुञ्जन्ति बाला दुर्मेधसो जनाः।
अप्रमादञ्च मेधावी धनं श्रेष्ठमिव रक्षति ॥ ६ ॥]

मूर्ख तथा दुर्बुद्धि वाले मनुष्य प्रमाद में मन लगाते हैं। मेधावी मनुष्य अप्रमाद की इस प्रकार रक्षा करता है, जैसे श्रेष्ठ धन की रक्षा की जाती है ॥ ६ ॥

२७—मा पमादमनुयुञ्जेथ मा कामरतिसन्थवं।
अप्पमत्तो हि झायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं ॥ ७ ॥
[मा प्रमादमनुयुञ्जीत मा कामरतिसंस्तवम्।
अप्रमत्तो हि ध्यायन् प्राप्नोति विपुलं सुखम् ॥ ७ ॥]

प्रमाद में मन मत लगाओ। काम एवं वासना से परिचय मत बढ़ाओ। अप्रमादी मनुष्य ध्यान करता हुआ ही विपुल सुख को प्राप्त करता है ॥७॥

जेतवन महाकस्सप

२८—पमादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो।
पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं ॥
पब्बतट्ठो व भुम्मट्ठे[1] धीरो बाले अवेक्खति ॥ ८ ॥
[प्रमादमप्रमादेन यदा नुदति पण्डितः।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य ह्यशोकः शोकिनीं प्रजाम्।
पर्वतस्थ इव भूमिस्थान् धीरो बालानवेक्षते ॥ ८ ॥]

जब पण्डित अप्रमाद से प्रमाद को दूर कर देता है, तब वह प्रज्ञा के महल पर चढ़कर, शोकरहित होकर शोकयुक्त प्रजा को इस प्रकार देखता है, जिस प्रकार पर्वत पर बैठा हुआ भूमि पर बैठे हुए को यथा धैर्यवान् मनुष्य मूर्ख को देखता है ॥ ८ ॥

---

१. भूमट्ठे—ब्रह्मदेशीय पाठान्तर।

जेतवन द्वसहायक भिक्खु

२९—अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं व साघस्सो हित्वा याति सुमेधसो ॥ ९ ॥
[अप्रमत्तः प्रमत्तेषु सुप्तेषु बहुजागरः।
अबलाश्वमिव शीघ्राश्वो हित्वा याति सुमेधाः ॥ ९ ॥]

प्रमत्तों में अप्रमत्त होकर तथा सोये हुओं में जागृत होकर, बुद्धि द्वारा लाँघ कर ऐसा चला जाता है जैसे शीघ्रगामी घोड़ा निर्बल घोड़े को लाँघ कर चला जाता है ॥ ९ ॥

वेसाली कूटागार महाली

३०—अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा ॥ १० ॥
[अप्रमादेन मघवा देवानां श्रेष्ठतां गतः।
अप्रमादं प्रशंसन्ति प्रमादो गर्हितः सदा ॥ १० ॥]

इन्द्र अप्रमाद के द्वारा देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए। सभी अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं। प्रमाद सदैव निन्दनीय है ॥ १० ॥

जेतवन अञ्ञतरं भिक्खु

३१—अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
संयोजनं[१] अणुं थूलं डहं[२] अग्गी व गच्छति ॥ ११ ॥
[अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा।
संयोजनमणु स्थूलं दहन्नग्निरिव गच्छति ॥ ११ ॥]

अप्रमाद में रत भिक्षु, प्रमाद में भय को देखने वाला, अपने छोटे तथा बड़े बन्धनों को अग्नि की तरह जलाता हुआ जाता है ॥ ११ ॥

३२—अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
अभब्बो परिहानाय निब्बाणस्सेव सन्तिके ॥ १२ ॥
[अप्रमादरतो भिक्षुः प्रमादे भयदर्शी वा।
अभव्यः परिहाणाय निर्वाणस्यैवान्तिके ॥ १२ ॥]

अप्रमाद में रत भिक्षु, प्रमाद में भय को देखने वाला पतन के योग्य नहीं है। वह निर्वाण के समीप है ॥ २२ ॥

---

१. सञ्ञोजनं—सिंहलदेशीय पाठान्तर।
२. यहाँ फज्बोल स्वीकृत पाठ 'सहं' है।

चित्तवग्गो ततियो

[चित्तवर्गस्तृतीयः]

चालिक[1] पब्बत　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　मेघिय (थेर)

३३—फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं[2] दुन्निवारयं ।[3]
उजुं[4] करोति मेधावी उसुकारो व तेजनं ॥ १ ॥
[स्पन्दनं चपलं चित्तं दूरक्ष्यं दुर्निवार्यम् ।
ऋजुं करोति मेधावी इषुकार इव तेजनम् ॥ १ ॥]

जिस प्रकार बाण को बनाने वाला अपने बाण को सीधा करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अपने निरन्तर विचलित रहने वाले, चपल, कठिनाई से रक्षा करने योग्य और कठिनाई से निवारण करने योग्य चित्त को सीधा करता है ।१।

३४—वारिजो व थले खित्तो ओकमोकत[5] उब्भतो ।

---

१. सिंहलीपाठ—वालिक पब्बत ।

२. दूरक्ख—ब्रह्मदेशीय पाठान्तर ।

३. तु०—श्रीमद्भगवद्गीता—६।३५
"········मनो दुर्निग्रहं चलम् ।"

४. उजु=ऋजु (संस्कृत) । संस्कृत ऋ का पालि में कहीं-कहीं 'उ'कार आदेश हो जाता है । वस्तुतः यह प्राकृत भाषाओं का साधारण नियम है । सूत्र :—उदृत्वादिषु (प्राकृतप्रकाश १।२९); जैसे वृष्टि=वुट्ठी, ऋषभः=उसभो इत्यादि । देखिये—E. Muller : A Simple Grammar of the Pali Language, पृ० ४-५ ।

५. ओकमोकत पद की संस्कृत छाया में राहुल सांकृत्यायन आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने भी 'उदकौकतः' या 'उदकस्यौकतः' ऐसा लिखा है । पहले से ही 'ओक' शब्द को 'उदक' शब्द का पालि रूप माना जाता है, और इसी के कारण मैक्समूलर से लेकर डा० राधाकृष्णन् तक सभी विद्वान् अनुवादक इसका 'जल' ऐसा अर्थ मानते हैं । दो एक अर्वाचीन पालि अभिधानों में भी ओक शब्द का एक अर्थ

परिफन्दतिदं[1] चित्तं मारधेय्यं पहातवे[2] ॥ २ ॥

'जल' है, ऐसा लिखा गया है। भाषाशास्त्री ग्रीयर्सन का सिद्धान्त यह है कि उदक शब्द का संकोचन (अर्थात् Contraction) होकर 'ओक' शब्द निष्पन्न होता है। यह सब तो भदन्त बुद्धघोष के भ्रमात्मक व्याख्यान के ऊपर आधारित है। प्रस्तुत गाथा की टीका करते हुये भदन्त बुद्धघोष ने 'ओक' पद का 'जल' अर्थ माना और अपने मत की पुष्टि के लिये उनके द्वारा दृष्टान्त स्वरूप विनय-पिटक से प्रदत्त उद्धरण का पाठ सन्देहास्पद है। उस विवादास्पद दृष्टान्त को छोड़कर पालि वाङ्मय में 'जल' अर्थ के लिये 'ओक' शब्द का प्रयोग दुष्प्राप्य है। प्रस्तुत स्थल में तो 'जल' अर्थ के ग्रहण से द्वितीया विभक्ति भी अत्यन्त दुर्घट हो जायगी। अतः इस गाथा का ऐसा अन्वय और अनुवाद किया जाय कि, "ओकतो (अर्थात् जलमय निवासस्थान से) ओकम् (घर पर) उब्भतो (उद्धृत अर्थात् लाई हुई) वारिजो (मछली)······"तब उपर्युक्त दोष का परिहार हो सकता है।

१. परिफन्दति + इदं = परिफन्दतिदं, सूत्र—'सरा सरे लोपं' (कच्चायन १।२।१), अर्थात् स्वरवर्ण से परे अगर स्वरवर्ण हो तो कभी-कभी पूर्वस्वर का लोप हो जाता है।

२. पहातवे=प्रहातुम्=निकलने के लिये। असमापिका क्रिया में जहाँ संस्कृत में 'तुम्' प्रत्यय होता है वहाँ पालि में 'तुं', 'ताये' और 'तवे' ये तीन प्रत्यय हो सकते हैं, जैसे, कातुं, कत्ताये, कातवे। सूत्र--'तुं ताये तवे भावे भविस्सति क्रियायं तदत्थायं'—मोग्गल्लान ५।६१। किन्तु कच्चायन के मतानुसार केवल तुं और तवे ये दो प्रत्यय होते हैं, 'इच्छत्थेसु समानकत्तुकेसु तवे तुं वा' (४।२।१२)। ये प्रत्यय वैदिक भाषा से ही साक्षात् पालि भाषा में लिये गये हैं। निमित्तार्थक असमापिका क्रिया के लिये वैदिक भाषा में से, अध्यै, तवै, तवेङ् आदि कई एक प्रत्यय प्रयुक्त होते थे (पाणिनि ३।४।९–'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यै-अध्यैन्-कध्यैकध्यैन्शध्यै-शध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः') जिनमें से केवल 'तुम्' यह एक ही लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होता है बाकी सबको छोड़ दिया गया। प्रस्तुत उदाहरण में उपलब्ध 'पहातवे' पद का संस्कृत (वैदिक) आधार प्रहातवे है, प्रहातुम् नहीं।

[वारिज इव स्थले क्षिप्त उदकस्यौकत उद्भूतः ।
परिस्पन्दत इदं चित्त मारधेयं प्रहातुम् ॥ २ ॥]

जिस प्रकार जल के घर से निकली हुई और स्थल पर फेंकी गई मछली तड़फड़ाती है, उसी प्रकार मार के बन्धन से निकलने के लिए यह चित्त तड़फड़ाता है ॥ २ ॥

सावत्थी अञ्ञतर भिक्खु

३५—दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकामनिपातिनो ।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं[1] सुखावहं ॥ ३ ॥
[दुर्निग्रहस्य लघुनो यत्रकामनिपातिनः ।
चित्तस्य दमथः[2] साधु चित्तं दान्तं सुखावहम् ॥ ३ ॥]

जो चित्त कठिनाई से निग्रह योग्य है, चञ्चल है, इच्छानुसार भागनेवाला है, उस चित्त का दमन करना उत्तम है। दमन किया गया चित्त सुखकारी होता है ॥ ३ ॥

सावत्थी उक्कण्ठितञ्ञतरभिक्खु

३६—सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थकामनिपातिनं ।
चित्तं रक्खेथ मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥ ४ ॥
[सुदुर्दर्शं सुनिपुणं यत्रकामनिपातिनं ।
चित्तं रक्षेत् मेधावी चित्तं गुप्तं सुखावहम् ॥ ४ ॥]

---

१. दन्तं = दान्तम् । पालि और प्राकृत भाषा में साधारणतया संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व दीर्घ स्वर नहीं रह सकता है, दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है। देखिए—वररुचि कृत प्राकृत-प्रकाश 'सन्धावचामज् लोपविशेषा बहुलम्' ४।१ सूत्र की भामह कृत व्याख्या ।

२. पालि 'दमथो' पद की छाया में 'दमयतः' ऐसा षष्ठीविभक्तियुक्त पद लिखना (जैसा कि चारुचन्द्र जी वसु लिखे हैं) तो एकदम गलत ही है और इस पद को असंस्कृत पद समझ कर इसकी जगह पर 'दमन' (जैसा राहुल सांकृत्यायन लिखे हैं) भी ठीक नहीं है 'दमथ' शब्द जैसा पालि में 'ण्वादि थ' प्रत्यय से (कच्चायन ४।६।५) सिद्ध होता है वैसा ही संस्कृत में भी उणादि 'अथ' प्रत्यय से सिद्ध होता है (उणादिसूत्र ३।११३) । 'दमन' या 'दम' इस अर्थ के लिए 'दमथ' शब्द संस्कृत कोष में भी प्रसिद्ध है, जैसे 'दान्तिस्तु दमथो दमः' (अमरकोष ३।२।३) ॥

जो कठिनाई से देखे जाने योग्य है, बड़ा चतुर है और इच्छानुसार भागने वाला है, बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे चित्त की रक्षा करे। सुरक्षित चित्त सुखकारी होता है ॥ ४ ॥

सावत्थी संघरक्खित

३७—दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्त संयमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना ॥ ५ ॥
[दूरङ्गममेकचरमशरीरं गुहाशयम्।
ये चित्तं संयस्यन्ति मोक्ष्यन्ते मारबन्धनात् ॥ ५ ॥]

जो मनुष्य दूर जाने वाले अकेले विचरने वाले, अशरीरी और हृदय में छिपे हुए चित्त का संयमन कर लेंगे वे मार के बन्धन से छूट जावेंगे ॥ ५ ॥

सावत्थी चित्तहत्थ थेर

३८—अनवट्ठितचित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पञ्ञा न परिपूरति ॥ ६ ॥
[अनवस्थितचित्तस्य सद्धर्ममविजानतः।
परिप्लवप्रसादस्य प्रज्ञा न परिपूर्यते ॥ ६ ॥]

जिसका चित्त अवस्थित नहीं है, जो सद्धर्म को नहीं जानता है, और जिसके मन की शान्ति विनष्ट हो गई है, उसकी प्रज्ञा पूर्ण नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

३९—अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।
पुञ्ञपापपहीनस्स नत्थि जागरतो भयं ॥ ७ ॥
[अनवस्रुतचित्तस्य[1] अनन्वाहतचेतसः।
पुण्यपापप्रहीणस्य नास्ति जाग्रतो भयम ॥ ७ ॥]

---

१. 'अनवस्सुत' पद का संस्कृत आधार 'अनवस्रुत' है या अनवश्रुत इस विषय में मैक्समूलर, वेबर, बुर्नफ आदि पाश्चात्त्य विद्वान् बड़ी विद्वत्ता के साथ विचार किए हैं। जिनमें पण्डित मैक्समूलर के अभिप्रायानुसार 'अनवश्रुत' ही प्रकृत संस्कृत रूप है, अर्थात् इस शब्द का मुल 'श्रु' धातु ही है। 'श्रु' का गति अर्थ जो मैक्समूलर और बुर्नफ का अभिमत हैं, केवल बौद्धशास्त्र की परिभाषा के अनुसार हो सकता है। प्रचलित पाणिनीय धातु के अनुसार 'श्रु' का अर्थ श्रवण ही होता है (श्रु श्रवणे धातु ९४२), किन्तु क्षीरतरङ्गिणी टीका में 'श्रु गतौ' यह पाठ भी उपलब्ध है। संस्कृत 'स्रु' धातु से भी 'उपस्सुत'

जिसका चित्त मलरहित है, जिसका मन अनाहत है, और जो पुण्य तथा पाप-विहीन है, ऐसे सजग रहनेवाले मनुष्य को भय नहीं है ॥ ७ ॥

सावत्थी विपस्सक भिक्खु

४०—कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा ।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन जितं च रक्खे अनिवेसनो[1] सिया ॥ ८ ॥

[कुम्भोपमं कायमिमं विदित्वा
नगरोपमं चित्तमिदं स्थापयित्वा ।
युध्येत मारं प्रज्ञायुधेन जितं
च रक्षेदनिवेशनः स्यात् ॥ ८ ॥]

इस शरीर को घड़े के समान (क्षणस्थायी) जानकर, इस चित्त को नगर

शब्द की उत्पत्ति मानी जा सकती है, गत्यर्थक स्रु (स्रु गतौ धा० ९४०) धातु भी संस्कृत व्याकरण में मिलती है जिससे बौद्ध पारिभाषिक 'आसव' शब्द की सिद्धि में कोई बाधक नहीं है। ललितविस्तर में जो 'आश्रव' शब्द और 'श्रवन्ति' (शुष्का आश्रवा न पुनः श्रवन्ति, अध्याय १२) पद मिलते हैं, उनकी सिद्धि उपर्युक्त 'श्रु' धातु से होगी जिसका अर्थ गति है। वस्तुतः गत्यर्थक श्रु और स्रु एक ही प्राचीन धातु के दो रूपभेद हैं। अस्तु, पालि-शास्त्र में 'आसव' शब्द का बहुतायत प्रयोग उपलब्ध है जिससे इसका पारिभाषिक अर्थ यह प्रतीत होता है 'वासना' या तृष्णादिजनित चित्तमल जिसके तीन या चार भेद भी माने गए हैं—कामासव, भवासव, दिट्ठासव और अविज्जासव; देखिए दीघ निकाय २रा खण्ड, पृ० ८१ (P. T. S.)—'पञ्ञापरिभावितं चित्तं सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति, सेय्यथीदं—कामासवा, भवासवा, दिट्ठासवा, अविज्जासवा (यहाँ ब्रह्मदेशीय पाठ में 'दिट्ठासवा' पद नहीं है)।

१. अनिवेसन (अनिवेशन) शब्द का वाच्य अर्थ है 'गृहहीन' अर्थात् जिसका घर नहीं है। किंतु इसका बौद्धशास्त्र में प्रसिद्ध पारिभाषिक अर्थ है जो गृह, द्वार पुत्रादि के ऊपर आसक्ति को छोड़ कर विरक्त संन्यासी बन गया है। मैक्समूलर के मतानुसार उपर्युक्त पारिभाषिक अर्थ प्रस्तुत स्थान पर नहीं बैठता है। उनके अनुसार यहाँ 'अनिवेशनो सिया' का अर्थ है, मार के साथ युद्ध करते हुए कभी नहीं उपवेशन अर्थात् आराम करना ठीक है। अर्थात् सदैव अतन्द्रित होकर मार के साथ युद्ध करना है।

के समान (सुरक्षित) बना कर, प्रज्ञा रूपी शस्त्र से मार के साथ मनुष्य युद्ध करे। वह जीते हुए की रक्षा करे और आसक्ति-रहित होकर रहे ॥ ८ ॥

सावत्थी पूतिगत्ततिस्स थेर

४१—अचिरं वतयं कायो पठविं अधिसेस्सति।
छुद्धो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं व कलिङ्गरं[1] ॥ ९ ॥
[अचिरं बतायं कायः पृथिवीमधिशेष्यते।
क्षुद्रोऽपेतविज्ञानो निरर्थमिव कलिङ्गरम् ॥ ९ ॥]

अहो ! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही, चेतना-रहित होकर निरर्थक काष्ठ की भाँति, पृथ्वी पर शयन करेगा ॥ ९ ॥

कोसल जनपद नन्दगोपाल

४२—दिसो दिसं यं तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे ॥ १० ॥
[द्विट् द्विषं यत् कुर्याद् वैरी वा पुनर्वैरिणम्।
मिथ्या प्रणिहितं चित्त पापीयांसमेनं ततः कुर्यात् ॥१०॥]

शत्रु शत्रु के प्रति वैरी वैरी के प्रति जो बुराई करता है, कुमार्ग में लगा हुआ चित्त उससे अधिक बुराई करता है ॥ १० ॥

जेतवन (सावत्थो) सोरेय्य[2] (थेर)

४३—न तं माता पिता कयिरा अञ्ञे वा पि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो नं ततो करे ॥ ११ ॥

---

१. पालि 'कालिङ्गर' शब्द का संस्कृत मूल अनिश्चित है (रीज डेविडस् के मतानुसार इसका संस्कृत मूल कडङ्कर या कडङ्गर है)। बुद्धघोष के मतानुसार इसका अर्थ है 'कट्ठखण्डं' अर्थात् लकड़ी का टुकड़ा। किंतु किसी शब्द के साथ संस्कृत "अङ्गार" शब्द का समास करने से पालि में यह पद सिद्ध होता है कि नहीं, यह बात सोचने योग्य है।

२. धम्मपदट्ठ कथा का ब्रह्मदेशीय पाठ के अनुसार इस स्थान तथा पात्र का निर्देश किया गया है। सिंहली पाठ में इस जगह 'इमं धम्मदेसनं सत्था सोरेय्यनगरे समुट्ठितं सावत्थियं निक्खेपेसि'—ऐसा पाठ मिलता है।

[न तन्मातापितरौ कुर्यातामन्ये चापि च ज्ञातिकाः ।
सम्यक् प्रणिहितं चित्तं श्रेयांसमेनं ततः कुर्यात् ॥ ११ ॥]

माता, पिता तथा अन्य सम्बन्धी लोग जितनी भलाई नहीं कर सकते हैं, सन्मार्ग में लगा हुआ चित्त उससे अधिक भलाई करता है ॥ ११ ॥

पुप्फवग्गो चतुत्थो

[पुष्पवर्गश्चतुर्थः]

सावत्थी　　　　　　　　　　　　　　　　　　पञ्चसत भिक्खु

४४—को इमं पठविं विजेस्सति यमलोकं च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं[1] सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥ १ ॥
[क इमां पृथिवीं विजेष्यति यमलोकं चेमं सदेवकम्।
को धर्मपदं सुदेशितं कुशलः पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥ १ ॥]

इस पृथ्वी को और देवताओं सहित इस यमलोक को कौन जीतेगा ? कौन कुशल मनुष्य भली प्रकार उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भाँति चयन करेगा ? ॥ १ ॥

४५—सेखो पठविं विजेस्सति यमलोकं च इमं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति ॥ २ ॥
[शैक्षः पृथिवीं विजेष्यति यमलोकञ्चेमं सदेवकम्।
शैक्षो धर्मपदं सुदेशितं कुशलः पुष्पमिव प्रचेष्यति ॥ २ ॥]

शैक्ष इस पृथ्वी को और देवताओं सहित इस यमलोक को जीतेगा ? कुशल शैक्ष भली प्रकार उपदिष्ट धर्म के पदों का पुष्प की भाँति चयन करेगा ॥ २ ॥

सावत्थी　　　　　　　　　　　　　　　　　　मरीचिकम्मट्ठानिक थेर

४६—फेणूपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधम्मं अभिसंबुधानो।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे[2] ॥ ३ ॥

---

१. यहाँ धम्मपद का तात्पर्य है धर्म का मार्ग। भदन्त बुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार यहाँ धम्मपद शब्द से ३७ संख्यक धर्म समझना चाहिए जो कि बोधि को प्राप्त करवाते हैं ('यथा सभावतो कथितत्ता सत्ततिंस बोधिपक्खिय-धम्मसङ्खातं धम्मपदं······')।

२. पुराणादि आर्षशास्त्रों में वर्णित कामदेव मदन के फूलों से बने हुए पाँच बाण होते हैं। किन्तु बौद्धशास्त्र में मार का जो वर्णन साधारणतया पाया जाता है उसमें फूल शरों का वर्णन तो विशेष नहीं आता है। बुद्धघोष की टीका के

[फेनोपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधर्ममभिसम्बोधमानः ।
छित्त्वा मारस्य प्रपुष्पकाणि अदर्शनं मृत्युराजस्य गच्छेत् ॥३॥]

इस शरीर को पानी के फेन के समान जानकर तथा मरीचिका के समान मानता हुआ, मार के पुष्पमय बाणों को काटकर, यमराज की अदृष्टि को प्राप्त हो जाओ ॥ ३ ॥

सावत्थी विडूडभ

४७—पुप्फानि हेव[1] पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व मच्चु आदाय गच्छति ॥ ४ ॥
[पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम् ।
सुप्तं ग्रामं महौघ इव मृत्युरादाय गच्छति ॥ ४ ॥]

जिस प्रकार सोये हुए गाँव को बड़ा जलप्रवाह बहाकर ले जाता है, उसी प्रकार काम भोग रूपी फूलों का चयन करने वाले और आसक्त मन वाले मनुष्य को मृत्यु पकड़ कर ले जाती है ॥ ४ ॥

सावत्थी पतिपूतिका

४८—पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं ॥ ५ ॥
[पुष्पाणि ह्येव प्रचिन्वन्तं व्यासक्तमनसं नरम् ।
अतृप्तमेव कामेषु अन्तकः कुरुते वशम्[2] ॥ ५ ॥]

अनुसार यहाँ 'पपुप्फकानि' का अर्थ जीवन की तीन अवस्थाओं में विद्यमानता (मारस्स पपुप्फकसङ्खातानि तेभूमकानि वट्टानि ···)। अतः हमारे विचार से यहाँ मैक्समूलर आदि विद्वानों के द्वारा की हुई पौराणिक मदन की तुलना से पुष्पबाण की कल्पना नहीं जँचती है। आगे बढ़ कर बौद्ध मार ने आर्ष मदन के साथ समानता प्राप्त की थी। बौद्ध अमरसिंह ने अपने अभिधान (अमरकोष) में "मदनो मन्मथो मारः" इत्यादि लिखकर दोनों की समानता सिद्ध की है।

१. हिं + एव = हेव । सू० —'सरा सरे लोपं' (कच्चायन १।२।१)।

२. यहाँ पण्डित मैक्समूलर महाभारत शान्तिपर्व से निम्नलिखित दो श्लोकों का उद्धरण देते हैं—

पुष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥

काम भोग रूपी फूलों का चयन करने वाले, आसक्त मन वाले और काम वासनाओं में अतृप्त रहने वाले मनुष्य को मृत्यु अपने वश में कर लेती है ॥५॥

सावत्थी मच्छरियकोसियसेट्ठि

४९—यथा पि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥ ६॥

[यथापि भ्रमरः पुष्पं वर्णगन्धमहेठमानः।
पलायते रसमादाय एवं ग्रामे मुनिश्चरेत्॥ ६॥]

जिस प्रकार भ्रमर फूल के सौन्दर्य और गन्ध की हानि न करता हुआ उसके रस को लेकर भाग जाता है, उसी प्रकार मुनि ग्राम में विचरण करे॥ ६॥

सावत्थी पाठिक आजीवक

५०—न परेसं विलोमानि न परेसं [1]कताकतं।
अत्तनो व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च॥ ७॥

सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति।
संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तिकम्॥—शान्तिपर्व (१७५।१,११)

किन्तु उन प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् की यह बात हमें तो बड़ी विचित्र प्रतीत होती है कि महाभारतान्तर्गत उपर्युक्त श्लोक पालि का अनुवाद है। किसी भी प्रमाण से यह तत्त्व सप्रमाण नहीं हो सकता है कि वर्तमान पालि धम्मपद ग्रन्थ महाभारत से भी प्राचीन है। उक्त श्लोकों में दो स्थान पर 'क' प्रत्यय को छन्दःपूर्त्ति के लिए प्रयुक्त जानकर मैक्समूलर उन श्लोकों को पालि का अनुवाद कहते हैं, किन्तु यह बात तो हमें अनुभवसिद्ध है कि संस्कृत छन्दोनियमों की कठिनता के कारण मौलिक श्लोक लिखने वालों को भी प्रायशः ऐसा ही करना पड़ता है। विशेषतः महाभारतान्तर्गत ये दो श्लोक अनुवाद मात्र होते तो गाम (ग्राम) की जगह व्याघ्र क्यों आ गया ? वस्तुतः बौद्ध और आर्ष शास्त्रों के निष्पक्षपात गम्भीर अध्ययन से यह तत्त्व प्रतीत होगा कि दोनों शास्त्रों में जो अनेक सूक्तियाँ भाव और भाषा से अक्षरशः मिलती जुलती हैं वे सभी भारतीय जनता की साधारण सम्पत्ति हैं। जो भावनाएँ, लोकोक्तियाँ और लौकिक उपमाएँ हजारों वर्षों से जनता में प्रचलित थीं उनमें से ही आर्ष और बौद्ध शास्त्रकारों ने अपने-अपने उपादानों का संग्रह किया।

१. कतं = कृतम्—प्राकृत-प्रकाश १।२७। किन्तु पालि व्याकरण के

[न परेषां विलोमानि[1] न परेषां कृताकृतम् ।
आत्मन एव अवेक्षेत कृतान्यकृतानि च ॥ ७ ॥]

मनुष्य दूसरों के दोषों को और दूसरों के अच्छे और बुरे कार्यों को न देखे। उसे केवल अपने स्वयं के अच्छे और बुरे कार्यों को देखना चाहिए ॥ ७ ॥

सावत्थी छत्तपानि उपासक

५१—यथा पि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं अगन्धकं ।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ॥ ८ ॥
[यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवदगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाग् अफला भवत्यकुर्वतः ॥ ८ ॥]

जिस प्रकार सुन्दर और वर्णयुक्त फूल गन्धहीन होने से निष्फल होता है, उसी प्रकार आचरण में प्रयोग न करने वाले की सुभाषित वाणी निष्फल होती है ॥ ८ ॥

५२—यथा पि रुचिरं पुप्फ वण्णवन्तं सगन्धकं[2] ।
एवं सुभासिता वाचा सफला होति कुब्बतो[3] ॥ ९ ॥
[यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवत् सगन्धकम् ।
एवं सुभाषिता वाक् सफला भवति कुर्वतः ॥ ९ ॥]

जिस प्रकार सुन्दर और रंगयुक्त फूल गन्धयुक्त होने से सफल होता है, उसी प्रकार आचरण में प्रयोग करनेवाले की सुभाषित वाणी सफल होती है ॥ ९ ॥

पूब्बाराम (सावत्थी) विसाखा उपासिका

५३—यथा पि पुप्फरासिम्हा कयिरा मालगुणे बहू ।
एवं जातेन मच्चेन कत्तब्बं कुसलं बहुं ॥ १० ॥

अनुसार 'कर' धातु से 'क्त' प्रत्यय द्वारा 'कत' पद निष्पन्न होता है और 'रकारो च (कच्चायन ४।३।१७)' सूत्र से रकार का लोप हो जाता है।

१. विलोमानि (विपरीतानि) अर्थात् विपरीत आचरण या वचन। आगे दिया गया कताकतं पद के द्वारा आचरण का तो ग्रहण हो ही जाता है इसलिए भदन्त बुद्धघोष ने 'विलोमानि' से केवल 'विपरीत वचन' ही समझाया, "परेसं अञ्ञेसं विलोमानि परुसानि मम्मच्छेदकवचनानि" इत्यादि।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—"सुगन्धकं"।

३. सिंहलदेशीय पाठान्तर—सकुब्बतो।

[यथापि पुष्पराशेः कुर्यान्मालागुणान् बहून् ।
एवं जातेन मर्त्येन कर्त्तव्यं कुशलं बहु ॥ १० ॥]

जिस प्रकार फूलों की राशि में बहुत-सी मालाओं को बनाया जाता है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्य को बहुत-से अच्छे कार्य करने चाहिए ।। १० ॥

सावत्थी आनन्द थेर

५४—न पुप्फगन्धो पटिवातमेति न चन्दनं तगरमल्लिका वा ।
सतंच गन्धो पटिवातमेति सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति ॥ ११ ॥
[न पुष्पगन्धः प्रतिवातमेति न चन्दनं तगरं मल्लिका वा ।
सताञ्च गन्धः प्रतिवातमेति सर्वा दिशः सत्पुरुषः प्रवाति ॥११॥]

फूल की गन्ध वायु के विरुद्ध नहीं जाती है और चन्दन, तगर या मल्लिका की गन्ध भी वायु के विपरीत नहीं जाती है किन्तु सज्जनों की गन्ध वायु के विरुद्ध जाती है । सत्पुरुष सब दिशाओं में व्याप्त होता है ॥ ११ ॥

५५—चन्दनं तगरं वा पि उप्पल अथ वस्सिकी ।
एतेसं गन्धजातानं सालगन्धो अनुत्तरो ॥ १२ ॥
[चन्दनं तगरं वापि उत्पलमथ वार्षिकी ।
एतेषां गन्धजातानां शीलगन्धोऽनुत्तरः ॥ १२ ॥]

चन्दन, तगर, कमल या जुही, इन सबकी सुगन्धों से सदाचार की गन्ध उत्कृष्ट होती है ॥ १२ ॥

वेणुवन महाकस्सप

५६—अप्पमत्तो अयं गन्धो य्वायं तगरचन्दनी[1] ।
या च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो ॥ १३ ॥
[अल्पमात्रोऽयं गन्धो याऽयं तगरचन्दनी ।
यश्च शीलवतां गन्धो वाति देवेषु उत्तमः ॥ १३ ॥]

तगर और चन्दन की यह जो गन्ध है, वह अल्पमात्र है । परन्तु जो सदाचारी मनुष्यों की गन्ध है, वह उत्तम गन्ध देवताओं में फैलती है ॥ १३ ॥

वेणुवन गोधिक थेर

५७—तेसं संपन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं ।
सम्मदञ्ञा विमुत्तानं मारो मग्ग न विन्दति ॥ १४ ॥

१. ब्रह्मदेशीय पाठ—तगरचन्दनं ।

[तेषां सम्पन्नशीलानामप्रमादविहारिणाम् ।
सम्यग्ज्ञाविमुक्तानां मारो मार्गं न विन्दति ॥ १४ ॥]

उन सदाचारी और अप्रमादयुक्त होकर विचरण करने वाले तथा सम्यक् ज्ञान द्वारा मुक्त हुए मनुष्यों के मार्ग को मार नहीं प्राप्त कर सकता ॥ १४ ॥

जेतवन गरहदिन्न

५८—यथ सङ्कारधानस्मिं उज्झितस्मिं महापथे ।
पदुमं तत्थ जायेथ सुचिगन्धं मनोरमं ॥ १५ ॥
[यथा सङ्कार[1]धाने उज्झिते महापथे ।
पद्मं तत्र जायेत शुचिगन्धं मनोरमम् ॥ १५ ॥]

जिस प्रकार कूड़ा करकट फेंके गए राजमार्ग पर निर्मल गन्ध वाला मनोरम कमल पुष्प उत्पन्न हो जाता है ॥ १५ ॥

५९—एवं सङ्कारभूतेसु अन्धभूते पुथुज्जने ।
अतिरोचति पञ्ञाय सम्मासंबुद्धसावको ॥ १६ ॥
[एवं सङ्कारभूते अन्धभूते पृथग्जने ।
अतिरोचते प्रज्ञया सम्यक् संबुद्ध-श्रावकः ॥ १६ ॥]

इसी प्रकार कूड़े करकट से युक्त के समान अन्धे हुए मनुष्यों में भगवान् बुद्ध का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया हुआ श्रावक प्रज्ञा से प्रकाशमान होता है ॥ १६ ॥

———

१. सङ्कार शब्द का संस्कृत मूल अनुसन्धेय है ।

बालवग्गो पञ्चमो

[बालवर्गः पञ्चमः]

जेतवन (सावत्थी) दुग्गत सेवक

६०—दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं ।
दीघो बालानं संसारो[1] सद्धम्म अविजानतं ॥ १ ॥
[दीर्घा जाग्रतो रात्रिर्दीर्घं श्रान्तस्य योजनम् ।
दीर्घो बालानां संसारः सद्धर्ममविजानताम् ॥ १ ॥]

जागने वाले की रात्रि लम्बी होती है। थके हुए के लिए योजन लम्बा होता है। सद्धर्म को न जानने वाले मूर्खों के लिए संसार लम्बा होता है ॥ १ ॥

राजगह सद्धि विहारिक

६१—चरं चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो ।
एकचरियं दळ्हं कयिरानत्थि बाले सहायता ॥ २ ॥

---

१. संसार=स्थूल शरीर का आश्रय लेकर पुनः पुनः पृथ्वी पर जन्म लेना और मरना अर्थात् तृष्णाजन्य आवागमन ही संसार है। संसार का मूल अज्ञान है। इस विषय में बौद्धशास्त्र के साथ आर्ष शास्त्र भी पूर्णतया सहमत हैं। जैसे—

"तस्मादज्ञानमूलोऽयं संसारो सर्वदेहिनाम् ।"

—कूर्मपुराण, ईश्वरगीता अध्याय २।

अथवा—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारमधिगच्छति ॥—कठोपनिषद् ३।७

अज्ञानी वासना-सम्पन्न मूर्ख के लिए संसार दीर्घ होता है, इस विषय में भी आर्ष सिद्धान्त बौद्ध-सिद्धान्त के साथ सहमत है।

"यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।—माण्डूक्यकारिका, ४।५६।

यावत् सम्यग् दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवति ॥

—शांकरभाष्य ।

[चरंश्चेन्नाधिगच्छेत् श्रेयांसं सदृशमात्मनः ॥
एकचर्यां दृढां कुर्यात् नास्ति बाले सहायता[1] ॥ २ ॥]

यदि मार्ग पर चलते हुए मनुष्य को अपने समान या अपने से श्रेष्ठ साथी न मिले, तो दृढ़ता के साथ अकेला चलता जावे, परन्तु मूर्ख का साथ न करे ॥ २ ॥

सावत्थी आनन्दसेट्ठि

६२—पुत्ता मत्थि धनं मत्थि इति बालो विहञ्ञति ।
अत्ता हि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धनं[2]॥ ३ ॥
[पुत्रा मे सन्ति[3] धनं मेऽस्ति, इति बालो विहन्यते ।
आत्मा ह्यात्मनो नास्ति कुतः पुत्राः कुतो धनम् ॥३॥]

'पुत्र मेरे हैं,' 'धन मेरा है' ऐसा विचारकर मूर्ख मनुष्य दुःख पाता है । जब आत्मा ही अपना नहीं है, तो पुत्र कहाँ का, धन कहाँ का ॥ ३ ॥

जेतवन गण्ठिभेदक चोर

६३—यो बालो मञ्ञति बाल्यं पण्डितो वा पि तेन सो ।
बालो च पण्डितमानी स वे बालो ति वुच्चति[4] ॥ ४ ॥

---

१. तुलना कीजिए—

नो चे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं ।
राजा व रट्ठं विजितं पहाय
एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥—सुत्तनिपात, १.३.४६

२. देखिये श्रीमद्भगवद्गीता १३।९–१६ ।

३. 'पुत्ता मत्थि' (पुत्रा मेऽस्ति) यह पाठ स्पष्टतः व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है क्योंकि यहाँ बहुवचनान्त कर्त्ता कारक 'पुत्ता' के साथ 'अत्थि' इस एकवचनान्त क्रिया पद का प्रयोग किया गया है । किन्तु हर एक संस्करण में ऐसा ही पाठ उपलब्ध होता है और यह पाठ छन्द में बैठ भी गया है इसलिए मूल गाथा में इसका संशोधन करना उचित नहीं प्रतीत होता । संस्कृत छाया में शुद्धि के लिए 'पुत्रा मे सन्ति' या 'पुत्रो मेऽस्ति' इन दोनों में से एक लेना है । हमने पहला रूप इसलिए उचित समझा कि सभी विद्वानों, सम्पादकों और अनुवादकों ने 'पुत्र' शब्द का बहुवचनानुसार ही अनुवाद किया है ।

४. उपनिषद् में भी पण्डितमानी मूर्ख की बड़ी निन्दा सुनायी जाती है :—

[यो बालो मन्यते बाल्यं पण्डितो वापि तेन सः ।
बालश्च पण्डितमानी स वै बाल इत्युच्यते ॥ ४ ॥]

जो मूर्ख अपनी मूर्खता को जानता है, इससे वह बुद्धिमान् हो जाता है। पर जो मूर्ख होकर भी अपने को बुद्धिमान् मानता है, वस्तुतः वही मूर्ख कहा जाता है ॥ ४ ॥

जेतवन　　उदायित्थेर

६४—यावजीवम्पि चे बालो पण्डितं पयिरुपासति[1] ।
न सो धम्मं विजानाति दब्बी सूपरसं यथा ॥ ५ ॥
[यावज्जीवमपि चेद् बालः पण्डितं पर्युपास्ते ।
न स धर्मं विजानाति दर्वी सूपरसं यथा ॥ ५ ॥]

यदि मूर्ख मनुष्य जीवन भर बुद्धिमान् मनुष्य के साथ रहे, तो भी वह धर्म को नहीं जान सकता जिस प्रकार कलछी सूप के रस को नहीं जानती ॥ ५ ॥

जेतवन　　तिंस पावेय्यक भिक्खु

६५—मुहुत्तमपि चे विञ्ञू[2] पण्डितं पयिरुपासति ।
खिप्पं धम्मं विजानाति जिव्हा सूपरस यथा ॥ ६ ॥
[मुहूर्तमपि चेद् विज्ञः पण्डितं पर्युपास्ते ।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा[3] ॥ ६ ॥]

अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
—कठोपनिषद् २।५।६

१. पयिरुपासति—परि + उपासति = पर् य् उपासति (सू० इवण्णो यन्न वा—कच्चायन, १।२।१०) = पय् रुपासति (वर्णविपर्यय) पयिरुपासति (विप्रकर्ष)।

२. विञ्ञू (विज्ञः)—मोग्गल्लान के अनुसार वि पूर्वक ञा (ज्ञा) धातु से 'क्रू' प्रत्यय द्वारा 'विञ्ञू' पद सिद्ध होता है। सूत्र—वितो ञातो, मोग्गल्लान ५।३९। कच्चायन के मतानुसार यहाँ रू प्रत्यय है (४।३।१२)।

३. महाभारत सौप्तिक पर्व में ऐसे दो श्लोक उपलब्ध हैं जो प्रस्तुत (६४-६५) गाथाओं से अक्षरशः मिलते-जुलते हैं—

चिरं ह्यतिजडः शूरः पण्डितं पर्युपास्य ह ।
न स धर्मान् विजानाति दर्वी सूपरसानिव ॥

यदि विचारवान् मनुष्य क्षण भर बुद्धिमान् मनुष्य के साथ रहे, तो भी वह धर्म को जान लेता है, जैसे जीभ सूप के रस को जान लेती है ॥ ६ ॥

वेलुवन सुप्पबुद्ध कुट्ठ

६६—चरन्ति बाला दुम्मेधा अमित्तेनेव अत्तना ।
करोन्ता पापकं कम्मं यं होति कटुक[1]प्फलं ॥ ७ ॥
[चरन्ति बाला दुर्मेधसोऽमित्रेणैवात्मना ।
कुर्वन्तः पापकं कर्म यद् भवति कटुकफलम् ॥ ७ ॥]

दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य अपने शत्रु बने हुए से घूमते रहते हैं और पापयुक्त कार्य को करते हैं, जो कि कड़वे फल देने वाले होते हैं ॥ ७ ॥

जेतवन एक कस्सक

६७—न तं कम्मं कतं साधु यं कत्वा अनुतप्पति ।
यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति ॥ ८ ॥
[न तत्कर्म कृतं साधु यत् कृत्वाऽनुतप्यते ।
यस्याश्रुमुखा रुदन् विपाकं प्रतिसेवते ॥ ८ ॥]

किया हुआ वह कार्य अच्छा नहीं होता, जिसे करके मनुष्य को पश्चात्ताप होता है और जिसके परिणाम को आँसू बहाते हुए—रोते हुए भोगना पड़ता है ॥ ८ ॥

वेलुवन सुमन मालाकार

६८—तञ्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा[2] नानुतप्पति ।
यस्स पतीतो सुमनो विपाकं पटिसेवति ॥ ९ ॥
[तच्च कर्म कृतं साधु यत् कृत्वा नानुतप्यते ।
यस्य प्रतीतः सुमनो विपाकं प्रतिसेवते ॥ ९ ॥]

किया हुआ वह कार्य अच्छा होता है, जिसे करके मनुष्य को सन्ताप नहीं होता है और जिसके परिणाम को विश्वासपूर्वक प्रसन्न मन से भोगता है ॥९॥

मुहूर्तमपि तं प्राज्ञः पण्डितं पर्युपास्य हि ।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसानिव॥५।३-४

१. यहाँ 'प्'कार आगम केवल छन्दः की दृष्टि से किया गया है, नहीं तो छठा अक्षर लघु हो जाने से छन्दोभङ्ग हो जाता था ।

२. देखिए ५० नं० गाथा की टिप्पणी ।

जेतवन उप्पलवण्णथेरी

६९—मधू व[1] मञ्ञती बालो याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ[2] बालो दुक्खं निगच्छति॥ १०॥
[मध्विव मन्यते बालो यावत्पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापं अथ बालो दुःखं निगच्छति॥ १०॥

जब तक पाप कर्म का परिपाक नहीं होता है, तब तक मूर्ख मनुष्य उसे मधु के समान जानता है। और जब पाप कर्म का परिपाक होता है, तब वह मूर्ख मनुष्य दुःख को प्राप्त होता॥ १०॥

वेलुवन जम्बुक अजीवक

७०—मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ[3] भोजनं।
न सो सङ्खतधम्मानं कलं अग्घति सोळसिं[4]॥ ११॥
[मासे मासे कुशाग्रेण बालो भुञ्जत भोजनम्।
न स संख्यातधर्माणां कलामर्हति षोडशीम्॥११॥]

यदि मूर्ख मनुष्य प्रति माह कुश की नोक से भोजन करे, तो भी वह धर्म के जानकारों के सोलहवें भाग के भी बराबर नहीं हो सकता॥ ११॥

वेलुवन अहिपेत

७१—न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुच्चति[5]।
डहन्तं बालमन्वेति भस्मछन्नो व पावको॥ १२॥

---

१. यहाँ 'मधुवा' पाठ अधिकतर उपलब्ध और सिंहली परम्परा के अनुसार है।

२. ब्रह्मदेशीय पाठ में यहाँ 'अथ' पद नहीं है।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—भुञ्जेय।

पालि व्याकरण के अनुसार सत्तमी (लिङ्) प्रथमपुरुष एकवचन में भुञ्जेथ (आत्मनेपद), भुञ्जेय्य भुञ्जे (परस्मैपद) ये तीन रूप ही शुद्ध हैं। देखिए कच्चायन सूत्र ३।४।३६ की वृत्ति अथवा मोग्गल्लान सूत्र ६।७।१ वस्तुतः पालि धातुरूप (शब्दरूप भी) अंशतया संस्कृत धातु-रूपों के प्राकृत रूप हैं और शेष उनसे सादृश्यमूलक परिवर्तन (Analogical changes) के द्वारा सिद्ध हैं।

४. यहाँ ब्राह्मण्य धर्मानुयायी उपवासादि कृच्छ्रोंके ऊपर आक्षेप किया गया है।

५. यहाँ 'मुच्चति' पद का ठीक अर्थ क्या है इस विषय में विद्वानों में बड़ा ही मतभेद है, किसी अनुवादक ने अपना निश्चित मत नहीं दिया। 'विकार नहीं

[न हि पापं कृतं कर्म सद्यः क्षीरमिव मुञ्चति ।
दहन्[1] बालमन्वेति भस्मच्छन्न इव पावकः ॥ १२ ॥

किया हुआ पाप कर्म शीघ्र ही विकार नहीं लाता, जैसे दूध (शीघ्र ही जम नहीं जाता)। पर, वह पाप कर्म भस्म से आवृत हुई अग्नि के समान मूर्ख का पीछा करता है ॥ १२ ॥

वेलुवन सट्ठिकूट पेत

७२—यावदेव अनत्थाय ञत्तं बालस्स जायति ।
हन्ति बालस्स सुक्कंसं मुद्धमस्स विपातयं ॥ १३ ॥
[यावदेव अनर्थाय ज्ञप्तं बालस्य जायते ।
हन्ति बालस्य शुक्लांशं मूर्धानमस्य विपातयन् ॥ १३ ॥]

मूर्ख मनुष्य का जितना भी ज्ञान है, वह उसके अनर्थ के लिए होता है। वह

लाता' 'अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता' आदि अर्थ अत्यन्त क्लिष्ट हैं (देखिए अट्ठकथा—"न मुच्चति, न परिणमति न पकतिं विजहति यस्मिं पन भाजने दुय्हित्वा गाहितं याव तत्थ तक्कादि अम्बिलं न पक्खिपति याव दधिभाजनादिकं अम्बिलभाजनं न पापुणाति ताव पकतिं अविजहित्वा पच्छा जहति एवमेवं पाप कम्मम्पि कयिरमानमेव न विपच्चति……" आदि।) हमारा अनुमान है कि मूल पाठ 'पच्चति' था जो लिपिकार के प्रमाद से प्राचीन काल में ही परिवर्तित हो गया होगा !

यह भाव मनुसंहिता में भी मिलता है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥४।१२७

१. सभी विद्वानों के द्वारा किए हुए अनुवादों की दृष्टि से 'डहन्तं' पदको संस्कृत छाया में 'दहन्' पद रखा गया। अर्थात् 'डहन्तं' पद को 'पावको' पद का विशेषण मान लिया गया किन्तु इस में ऐसा लिङ्गव्यत्यय या विभक्ति-व्यत्यय को स्वीकार करना पडता जैसा कि पालि-वाङ्मय में नहीं दिखाई पड़ता है। वस्तुतस्तु यह अन्वय बुद्धघोष-सम्मत नहीं है। बुद्धघोष ने डहन्तं (दहन्तं) पद को 'बालं' पदका ही विशेषण माना है, जिन्होंने अट्ठकथा में लिखा है—"दहन्तं बालमन्वेति, किं विया ति ? भस्मच्छन्नो व पावको।" वस्तुतः यहाँ संस्कृत छायामें 'दह्यमानं' लिखना और तदनुसार ही अनुवाद करना ठीक है।

ज्ञान उसके मस्तक को छिन्न-भिन्न करता हुआ उसके शुद्ध अंश का विना कर देता है ।। १३ ।।

जेतवन सुधम्म थे

७३—असतं भावनमिच्छेय्य पुरेक्खारं च भिक्खुसु ।
आवासेसु च इस्सरियं पूजं परकुलेसु च ।। १४ ।।
[असतां भावनमिच्छेत् पुरस्कारञ्च भिक्षुसु ।
आवासेषु चैश्वर्यं पूजां परकुलेषु च ।। १४ ।।]

मूर्ख मनुष्य झूठी वस्तुओं की इच्छा करता है, भिक्षुओं के बीच में अग्र बनना चाहता है, निवासस्थलों में ऐश्वर्य की कामना करता है, और दू कुलों में आदर-सत्कार की अभिलाषा रखता है ।। १४ ।।

७४—ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो ।
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि ।
इति बालस्स संकप्पो इच्छा मानो च वड्ढति ।। १५ ।।
[ममैव कृतं मन्येतां गृहि-प्रव्रजितावुभौ ।
ममैवातिवशौ स्यातां कृत्याकृत्येषु कस्मिंश्चित् ।
इति बालस्य संकल्प इच्छा मानश्च वर्धते ।। १५ ।।]

मूर्ख मनुष्य का संकल्प होता है कि गृहस्थ और श्रमण दोनों ही मेरे कि हुए कार्य का अनुमोदन करें, किन्हीं भी करने योग्य तथा न करने योग्य प्रत्ये कार्यों में मेरे ही वशवर्ती रहें । इस प्रकार मूर्ख मनुष्य की इच्छाएँ और अभि मान बढ़ते जाते हैं ।। १५ ।।

जेतवन वनवासिकतिस्स थे

७५—अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बानगामिनी ।
एवमेतं अभिञ्ञाय भिक्खु बुद्धस्स सावको ।
सक्कारं नाभिनन्देय्य विवेकमनुब्रूहये[1] ।। १६ ।।

---

१. संस्कृत 'विवेक' शब्द का सामान्य अर्थ बोध, विचार, सत् और अस का प्रभेद ज्ञान आदि समझा जाता है। किन्तु बौद्ध शास्त्रों में इसका विशे पारिभाषिक अर्थ है 'पृथक्करण' या 'अलग करना' जैसे सांसारिक जगत् अलग होना कायविवेक, बुरी भावनाओं से अलग होना चित्तविवेक और सर्वो पार्थक्य उपधिविवेक अर्थात् निर्वाण । "तत्थ कायविवेको ति कायस्स एकोभावो चित्तविवेको ति अट्ठसमापत्तियो, उपधिविवेको तिनिब्बाणं······" (अट्ठकथा

[अन्या हि लाभोपनिषद् अन्या निर्वाणगामिनी ।
एवमेतदभिज्ञाय भिक्षुर्बुद्धस्य श्रावकः ।
सत्कारं नाभिनन्देद् विवेकमनुबृंहयेत् ॥ १६ ॥]

सांसारिक लाभों को प्राप्त करने का और मार्ग है, तथा निर्वाण की ओर ले जाने का मार्ग और है—इस प्रकार इसे जानकर बुद्ध का श्रावक भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन न करे और विवेक को सुदृढ़ बनावे ॥ १६ ॥



मूलतः सांसारिक अभ्युदय का मार्ग और मोक्ष मार्ग इन दोनों में प्रभेद करने की शक्ति ही विवेक है। ठीक इसी अर्थ में विवेक शब्द की मूल धातु उपनिषद् में भी प्रयुक्त हुई है। उपर्युक्त गाथा में उपलब्ध सिद्धान्त उपनिषद् में भी पाया जाता है। जैसे—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते नानार्थे पुरुषᳬसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १० ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

—कठोपनिषद १।२।१-२

श्री शंकराचार्य के मतानुसार भी विवेक का अर्थ पृथक्करण ही होता है। देखिए— उपर्युक्त मन्त्रों का भाष्य, 'विविनक्ति पृथक्करोति' ॥

पण्डितवग्गो छट्ठो

[पण्डितवर्गः षष्ठः]

जेतवन राध (थेर)

७६—निधीनं व पवत्तारं यं पस्से वज्जदस्सिनं।
निग्गय्हवादिं[1] मेधाविं तादिसं पण्डितं भजे।
तादिसं भजमानस्स सेय्यो होति न पापियो ॥ १ ॥
[निधीनामिव प्रवक्तारं यं पश्येद् वर्ज्यदर्शिनम्।
निगृह्यवादिनं मेधाविनं तादृशं पण्डितं भजेत्।
तादृशं भजमानस्य श्रेयो भवति न पापीयः ॥ १ ॥]

जो निधियों के बतलाने वाले के समान वर्जनीय बातों को बतलाने वाला है, जो निगृह्यवादी और मेधावी है—ऐसे इस प्रकार के बुद्धिमान् का साथ करना चाहिए। ऐसे मनुष्य का साथ करने वाले को पुण्य मिलता है, पाप नहीं ॥१॥

जेतवन अस्सजी पुनब्बसुक

७७—ओवदेय्यानुसासेय्य असब्भा च निवारये।
सतं हि सो पियो होति असतं होति अप्पियो ॥ २ ॥
[अववदेदनुशिष्यात्, असभ्याच्च निवारयेत्।
सतां हि स प्रियो भवति, असतां भवत्यप्रियः[2] ॥ २ ॥]

जो मनुष्य उपदेश देता है, अनुशासन करता है, तथा असभ्य आचरण से निवारण करता है वह मनुष्य सत्यपुरुषों को प्रिय होता है और असत्यपुरुषों को अप्रिय होता है ॥ २ ॥

---

१. निग्गय्हवादि (निगृह्यवादि)—जो आचार्य गलती करने वालों को ताड़नाद्वारा सुधार देता है, किसी स्वार्थ के कारण छोड़ नहीं देती।

विस्तृत व्याख्या के लिए अट्ठकथा देखिए। तुलनीय—
"निग्गय्ह निगय्हाहं, आनन्द वक्खामि पवय्ह पवय्ह। यो सारो सो ठस्सतीति।"
—मज्झिमनिकाय, ३ रा भाग, पृ० १८

२. तु०—अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।

जेतवन छत्र थेर

७८—न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे ।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ परिसुत्तमे ॥ ३ ॥
[न भजेत् पापकानि मित्राणि न भजेत् पुरुषाधान् ।
भजेत मित्राणि कल्याणानि भजेत पुरुषोत्तमान् ॥ ३ ॥]

मनुष्य पापी मित्र का साथ न करे। वह अधम पुरुष का संग न करे। वह कल्याणकारी मित्र का साथ करे और उत्तम पुरुष का संग करे ॥ ३ ॥

जेतवन महाकप्पिन थेर

७९—धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा ।
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो ॥ ४ ॥
[धर्मपीती सुखं शेते विप्रसन्नेन चेतसा ।
आर्यप्रवेदिते[1] धर्मे सदा रमते पण्डितः ॥ ४ ॥]

धर्म का पालन करनेवाला प्रसन्नचित्त हो सुख से सोता है। बुद्धिमान् मनुष्य आर्यों के द्वारा प्रतिपादित धर्म में सदा रमण करता है ॥४॥

---

१. अरिय = आर्य। गत्यर्थक 'ऋ' धातु से ण्य प्रत्यय द्वारा आर्यशब्द सिद्ध होता है। आर्य शब्द का प्राचीन अर्थ होता है—पूज्य या शिष्ट, जिनके पास उपदेशादि लेने के लिए जाना आवश्यक हो। विशेष शरीरावयवयुक्त मनुष्य जाति-बोधक आर्य शब्द का प्रयोग प्राचीन आर्ष या बौद्ध किसी शास्त्र में नहीं पाया जाता, आर्य शब्द का वैसा अर्थ पाश्चात्य विद्वानों की कपोलकल्पना मात्र है।

भगवान् मनु ने कहा है—

आर्यरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत् ।१०।५७

इससे यही निश्चित है कि अनुकरणीय कर्म करने वाला सदाचारी धार्मिक व्यक्ति ही आर्य होता है। अवश्य क्रमशः यह शब्द सदाचार सम्पन्न वैदिकधर्मावलम्वी मात्र के लिए प्रयुक्त होता रहा, विशेषतः म्लेच्छ शब्द का विपरीत अर्थ समझाने के लिए। जैसे—

म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे।
आर्याश्च पृथिवीपालाः..................'' आदि। महाभारत।

संस्कृत या तत्सदृश भाषाभाषी भी आर्य कहलाते थे। जैसे—

'म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः' आदि मनुसंहिता १०।४५

जेतवन

पण्डित सामनेर

८०—उदकं हि नयन्ति नेत्तिका[१] उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ॥ ५ ॥
[उदकं हि नयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः ॥ ५ ॥]

नहरों के निर्माणकर्ता पानी को ले जाते हैं। बाण बनाने वाले बाण को झुकाते हैं। बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं। इसी प्रकार पण्डित लोग अपना स्वयं का दमन करते हैं ॥ ५ ॥

८१—सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु[२] न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥ ६ ॥
[शैलो यथैकघनो वातेन न समीर्यते।
एवं निन्दाप्रशंसासु न समीर्यन्ते[३] पण्डिताः ॥ ६ ॥]

आर्यों के द्वारा प्रतिपादित कर्म करना पण्डित का लक्षण है ऐसा वचन महाभारत में भी पाया जाता है—

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥

महाभारत, उद्योग पर्व, ३३।२५

बुद्धघोषादि टीकाकारों ने यहाँ 'अरिय' शब्द का अर्थ 'बुद्ध और तन्मतावलम्बी उपदेशक' बतलाया है किन्तु एक बहुव्यापक शब्द के अर्थ को इतना संकीर्ण करना उचित नहीं प्रतीत होता। ("अरियप्पवेदितेति बुद्धादीहि अरियेहि पवेदिते सतिपट्ठानादिभेदे बोधपक्खियधम्मे…"—बुद्धघोष)

१. चीनी धम्मपद में यहाँ जो पाठान्तर है उसके अनुसार S. Beal ने अनुवाद में लिखा है, "The pilot manages his ship" अर्थात् कप्तान अपने जहाज को सँभालता है।

२. तुलना कीजिए—'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' (भगवद्गीता १२।१२ या 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (वही १४।२४)।

३. राहुल सांकृत्यायन जैसे बड़े विद्वान् (चारुचन्द्र वसु के निर्विचार अनुकरण से) गाथास्थित 'समीरति' पद की छाया में समीर्यते लिखकर फिर 'समीञ्जन्ति' पद की छाया में भी 'समीर्यन्ते' ऐसा लिखते हैं। उन दो जगहों में तो

जिस प्रकार ठोस पर्वत हवा से कम्पायमान नहीं होता, इसी प्रकार पण्डित लोग निन्दा और प्रशंसा में विचलित नहीं होते ॥६॥

जेतवन काणमातु

८२—यथा पि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान[1] विप्पसीदन्ति पण्डिता ॥ ७ ॥
[यथापि ह्रदो गम्भीरो विप्रसन्नोऽनाविलः।
एवं धर्मान् श्रुत्वा विप्रसीदन्ति पण्डिताः ॥ ७ ॥]

जिस प्रकार गहरा जलाशय निर्मल और स्वच्छ होता है, इसी प्रकार पण्डित लोग धर्मों को सुनकर सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

८३—सब्बत्थ[2] वे सप्पुरिता वजन्ति[3] न कामकामा लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन न उच्चावचं पण्डिता दस्सयन्ति ॥८॥

भिन्न पालि धातु हैं 'समीरति' पद 'ईर (ईर खेपे-मोग्गल्लान धातु पाठ १३९) धातु से निष्पन्न हुआ है और 'समोञ्जन्ति' पद 'इञ्ज' (इञ्ज कम्पने-धातु-मञ्जूषा १३) धातु से सिद्ध हुआ है। दोनों का ही संस्कृत आधार 'ईर' धातु बतलाना सिर्फ भ्रमात्मक है। वस्तुतः समीरति पद का संस्कृत आधार 'ईर' (ईर क्षेपे ५१९ अथवा ईर गतौ कम्पने च १८११) धातु तो ठीक ही है किन्तु 'समीञ्जन्ति' पद का संस्कृत आधार 'ईज' धातु (ईज गतिकुत्सनयोः १८२) मानने में कोई बाधक नहीं है। डॉ० रोज़ डेवीड्स का मत यह है कि समीञ्जन्ति पद 'ऋञ्ज' धातु से निष्पन्न होता है (ऋज धा० १७६) जो कल्पना हमें विशेष क्लिष्ट प्रतीत होती है। हमारे विचार से समीञ्जन्ति की छाया में 'समीज्यन्ते' लिखना ही उचित है।

१. सु + त्वान। संस्कृत क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर पालि धातुओं से परे विकल्प से तून, त्वान और त्वा ये तीन प्रत्यय होते हैं। पुब्बकालेककत्तुकानं तून-त्वान-त्वा वा—कच्चायन ४।२।१५।

२. सब्बत्थ = सर्वत्र। अर्थात् सभी स्थितियों में। "पञ्चखन्धादिभेदेसु सब्ब-धम्मेसु"—बुद्धघोष।

३. पाठान्तर—चजन्ति। चजन्ति पाठ ही बुद्धघोष का सम्मत है। फज़्बोल का अनुसरण करते हुए पं० मैक्समूलर ने यहाँ टीका में भी 'वजन्ति' पाठ माना है, किन्तु विशुद्ध सिंहली तथा ब्रह्मदेशीय संस्करणों में 'चजन्ति' पद ही हमको

[सर्वत्र वै सत्पुरुषा व्रजन्ति न कामकामा लपन्ति सन्तः ।
सुखेन स्पृहा अथवा दुःखेन नोच्चावचं पण्डिता दर्शयन्ति[१] ॥८॥]

सत्पुरुष लोग सर्वत्र चले जाते हैं। सन्त लोग कामनाओं की अभिलाष करते हुए व्यर्थ का प्रलाप नहीं करते हैं। चाहे सुख से उनका स्पर्श हो औ चाहे दुःख से पण्डित लोग अपने आचरण में ऊँच और नीच का विकार न दर्शाते ॥ ८ ॥

जेतवन धम्मिक थे

८४—न अत्तहेतु न परस्स हेतु
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं ।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो
स सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया ॥ ९ ॥
[नात्महेतोर्न परस्य हेतो-
र्नपुत्रमिच्छेन्न धनं न राष्ट्रम् ।
न इच्छेदधर्मेण समृद्धिमात्मनः
स शीलवान् प्रज्ञावान् धार्मिकः स्यात् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य न अपने लिए और न दूसरे के लिए पुत्र, धन और राज्य क अभिलाषा करता है, जो अधर्म द्वारा अपनी समृद्धि की इच्छा नहीं करता, व शीलवान् तथा धार्मिक व्यक्ति है ॥ ९ ॥

जेतवन धम्मसम

८५—अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो ।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति ॥ १० ॥
[अल्पकास्ते मनुष्येषु ये जना पारगामिनः ।
अथेमा इतराः प्रजाः तीरमेवानुधावति ॥ १० ॥]

मनुष्य में ऐसे लोग कम ही हैं जो पार जाने वाले हैं। ये अन्य लोग तो किनारे ही किनारे दौड़ने वाले हैं ॥ १० ॥

मिला 'वजन्ति' नहीं।

१. तु०—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
जितरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता २।५

८६—ये च खो[1] सम्मदक्खाते धम्मे धम्मानुवत्तिनो।
ते जना पारमेस्सन्ति मच्चु[2] धेय्यं[3] सुदुत्तरं ॥ ११ ॥
[ये च खलु सम्यगाख्याते धर्मे धर्मानुवर्तिनः।
ते जनाः पारमेष्यन्ति मृत्युधेयं सुदुस्तरम् ॥ ११ ॥]

पर जो लोग भली प्रकार से उपदेश किए गए धर्म का अनुगमन करते हैं, वे लोग अत्यन्त कठिनाई से पार जाने योग्य मृत्यु के राज्य के पार चले जायेंगे।।११।।

जेतवन पञ्चसत् आगन्तुक भिक्खु

८७—कण्हं[4] धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पण्डितो।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं[5] ॥ १२ ॥

---

१. पालि भाषा में संस्कृत 'खलु' शब्द का 'खलु' और 'खो' ये दोनों रूप ही उपलब्ध होते हैं। [देखिये कच्चायन सूत्र २।४।११ की वृत्ति]। 'खो' शब्द प्राकृतधर्मी है। प्राकृत भाषा में 'खलु' के स्थान पर 'क्खु' शब्द की निपातनसिद्धि बताई है। सूत्र 'हूँ क्खु निश्चयवितर्कसम्भावनेषु'—प्राकृतप्रकाश ९।६।

२. मच्चु=मृत्यु। संस्कृत 'ऋ'कार के स्थान पर पालि और प्राकृत में कहीं-कहीं 'अकार' आदेश हो जाता है। सू० 'ऋतोरत्' (प्राकृतप्रकाश १।२७) 'त्य' के स्थान पर च्च होना भी प्राकृत भाषा का एक वैशिष्ट्य है। सू० त्यथ्यद्यां चछजाः, शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ, प्राकृतप्रकाश ३।२७ और ३।५०।

३. 'मच्चुधेय्यं' पद में वर्तमान द्वितीया विभक्ति की संगति के लिए टीकाकार ने यहाँ 'तरित्वा' इस असमापिका क्रियापद का अध्याहार किया है। यह अध्यहार ही प्रसङ्ग के अनुसार संगत है किन्तु पं० मैक्समूलर ने 'पारमेस्सन्ति' को जो एक पद समझा वह आदौ संगत नहीं है।

४. कण्ह=कृष्ण। ष्ण की जगह 'ण्ह' आदेश होना प्राकृत भाषा का वैशिष्ट्य है। जैसा तृष्णा=तण्हा। सूत्र--ह्न-स्न-ष्ण-क्ष्ण-श्नानां ण्हः' प्राकृतप्रकाश ३।३३ अवश्य ही महाराष्ट्री आदि प्राकृत भाषा में 'कृष्णो वा (प्रा. प्र. ३।६१)' सूत्र के अनुसार विप्रकर्ष होकर विकल्प से 'कसण' शब्द भी सिद्ध होता है। किन्तु मोग्गल्लान आदि पालि वैयाकरण संस्कृत को पालि का आधार नहीं मानते, इस लिए उनको 'कण्ह' 'तण्हा' आदि शब्दों की निपातनसिद्धि माननी पड़ी। सू० 'तण्हादयो'—मोग्गल्लान ण्वादि वृत्ति, २२३। किन्तु सामान्य लक्षण द्वारा सिद्ध पदों की निपातनसिद्धि मानना 'निपातन' संज्ञा का ही अपप्रयोग है।

५. देखिए सुत्तनिपात (सभियसुत्त १२५) में पण्डित का लक्षण—

[कृष्णं धर्मं विप्रहाय शुक्लं भावयेत् पण्डितः ।
ओकादनोकमागम्य[१] विवेके[२] यत्र दूरमम् ॥ १२ ॥]

बुद्धिमान् मनुष्य काले धर्मं (पाप) का परित्याग करके शुक्ल धर्मं (पुण्य) का आचरण करे। वह गृहस्थ अवस्था को त्यागकर गृहविहीन अवस्था को प्राप्त करे, जिसमें विवेक की प्राप्ति कठिन होती है ॥ १२ ॥

८८—तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो[३] ।
परियोदपेय्य[४] अत्तानं चित्तक्लेसेहि पण्डितो ॥ १३ ॥
[तत्राभिरतिमिच्छेद् हित्वा कामानकिञ्चनः ।
पर्यवदापयेदात्मानं चित्तक्लेशैः[५] पण्डितः ॥ १३ ॥]

दुमयानि च विचेय्य पाण्डुराणि
अज्झतं वहिद्धा च सद्धिपञ्ञो ।
कण्हं सुक्कं उपानिधत्तो
पण्डितो तादि पवुच्चते तथत्ता ॥

१. ओकादनोकमागम्य—गृह को छोड़कर गृहविहीन अवस्था को प्राप्त करने का अर्थं है प्रवज्या ग्रहण । प्राचीन शास्त्रों में प्रवज्या या संन्यास अर्थं के लिए 'अनिकेत' आदि शब्दों का प्रयोग होता था, जिनका मुख्य अर्थं है गृह-विहीनता । जैसे "अनिकेतः स्थिरमतिः…." आदि श्रीमद्भगवद्गीता १२।१९ । [अनिकेतो निकेत आश्रयो निवासो नियतो न विद्यते यस्य सोऽनिकेतो नागारे इत्यादिस्मृत्यन्तरात् —शांकरभाष्य]

२. 'विवेक' की व्याख्या के लिए ७५ गाथा की टिप्पणी देखिए ।

३. अकिञ्चन नत्थि किंचन यस्य (बहुव्रीहि समास) अकिंचनता (अर्थात् द्रव्यत्याग) की प्रशंसा महाभारत में भी पाई जाती है । जैसे—

"अकिंचनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव हि ॥
आकिंचन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम् ।

—महाभारत, शान्ति-पर्वं, १७६।७८

४. परियोदपेय्य = परि—अव—दै (दा + चिचू ?) + सत्तमो (सं० लिङ्) १ म. पु. १ वचन । 'परि—अव + दै' धातु का अर्थं 'शुद्धिकरण' हो सकता है। बुद्धघोष ने कहा—"परियोदपेय्य वोदपेय्य परिसोधेय्याति अत्थो ।"

५. बौद्ध शास्त्रों में दस क्लेशों को माना गया है जो चित्त के साथ सम्बद्ध

वह बुद्धिमान् मनुष्य कामनाओं को त्याग कर, अकिंचन बनकर वहाँ रत रहने को इच्छा करे तथा इस प्रकार चित्त के क्लेशों से अपने आपको परिशुद्ध करे ॥ १३ ॥

८९—येसं संबोधियङ्गेसु[1] सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदानपटिनिस्सग्गे अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता[2] ॥ १४ ॥
[येषां सम्बोध्यङ्गेषु सम्यक् चित्तं सुभावितम्।
आदानप्रतिनिस्सर्गे अनुपादाय ये रताः।
क्षीणास्रवा ज्योतिष्मन्तस्ते लोके परिनिर्वृताः ॥ १४ ॥]

जिनका चित्त सम्बोधि के अंगों में भली प्रकार से अभ्यस्त हो गया है, जो ग्रहण करने में अनासक्त होकर, परिग्रह के परित्याग में रत हैं, जिनके चित्त के मैल विनष्ट हो गए हैं और जो दाप्तिमान् हैं ऐसे मनुष्य संसार में निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

—:०:—

हो सकते हैं जैसे—लोभ, दोस, मोह, मान, दिट्ठि, विचिकिच्छा, थिन (स्त्यान), उद्धच्च (औद्धत्य), अहिरिक (अह्रीकत्व), अनोत्तप्प। देखिए धम्मसंगणि पृ० २७० ॥ पाँच नीवरण (या निवरण) धर्म 'चित्तक्लेश' कहलाते हैं, जैसे भदन्त बुद्धघोष यहाँ व्याख्या करते हुए कहते हैं—"चित्तक्लेसेहि पञ्चहि नीवरणेहि"। पञ्च नीवरण ये हैं, अभिज्झा, व्यापाद, थीनसिद्ध, उद्धच्चकुकुच्च और वितिकिच्छा (देखिए—दीघनिकाय १ ला भाग पृ० ९३)। उपर्युक्त पञ्च नीवरण धर्मों को काम, क्रोध, मोह, मद और दम्भ कहा जा सकता है।

१. सम्वोधियङ्गेसु—सम्बोधि अङ्ग या सम्बोज्झङ्ग सात होते हैं—सति (आत्मसंयम), धम्मविचय (धर्मार्थं अन्वेषण), विरिय (शक्ति), पीति (आनन्द), पस्सद्धि (शान्ति), समाधि और उपेक्खा (तितिक्षा)। देखिए दीघनिकाय, २ रा भाग, पृ० ६४ "याव कीवं च भिक्खवे, भिक्खू, सति सम्बोज्झङ्गं, धम्मविचयसम्बोज्झङ्गं, विरियसम्बोज्झङ्गं पोतिसम्बोज्झङ्गं पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गं....समाधिसम्बोज्झङ्गं.....उपेक्खासम्बोज्झङ्गं भावेस्सन्ति "........."

२. परिनिब्बुत (परिनिर्वृत)—जिसने निर्वाण को प्राप्त किया है ॥

अरहन्तवग्गो सत्तमो

[अर्हद्वर्गः सप्तमः]

जीवक का आम्रवन (राजगह) जीवक

९०—गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि।
सब्बगन्थप्पहीनस्स परिळाहो[1] न विज्जति ॥ १ ॥
[गताध्वनो विशोकस्य विप्रमुक्तस्य सर्वथा[2]।
सर्वगन्थप्रहीणस्य परिदाहो न विद्यते ॥ १ ॥]

जिसका मार्ग समाप्त हो चुका है, जो शोकरहित तथा सर्वथा विमुक्त है सब ग्रन्थियों से छूट चुका है, उसके लिए कोई सन्ताप नहीं है ॥ १ ॥

---

१. परिळाहः ··इस शब्द की व्युत्पत्ति, परि + दह + णप्, 'दह' धातु के 'ह' कार को विकल्प से 'ळ' आदेश होता है 'णप्' प्रत्यय की परता में। सूत्र—'दहस्स दो ळं', (कच्चायन ४।५।८)। पक्षे—परिदाह (तत्सम)।

परिदाह का अर्थ है सन्ताप। सन्ताप दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक (चैतसिक)। देखिये अट्ठकथा—"दुविधो परिळाहो कायिको चेतसिको च।"

२. 'सब्बधि' शब्द का संस्कृत मूल अनिश्चित है। अर्थगत सादृश्य की दृष्टि से यहाँ 'सर्वथा' रखा गया है। इसकी संस्कृत छाया में 'सर्वधा' लिखना (देखिए, स्वर्गगत चारुचन्द्र वसु का संस्करण) आदि भ्रमात्मक हैं, क्योंकि संस्कृत में ऐसा कोई 'धा' प्रत्यय नहीं है जिससे इसकी सिद्धि होगी। 'द्विधा' 'त्रिधा' 'विधा' आदि शब्दों में जो 'धा' सुना जाता है वह प्रत्यय नहीं है (इस विषय पर हरिनामामृत व्याकरण का सिद्धान्त गलत है), परन्तु कृदन्त पद (– धा + क) है। यहाँ उस 'धा' पद की कल्पना असम्भव है। अल्ब्रेख्त वेबर के मतानुसार इस 'सब्बधि' शब्द का संस्कृत रूप 'सर्वध' होगा, जैसा 'विश्वध' पद वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है। द्रष्टव्य—'ऊर्जं न विश्वध क्षरध्यै (ऋ० सं० १।६३।८)' अथवा 'त्वमस्माकमिन्द्र विश्वध स्याः (ऋ० स० १।१७४।१०)' आदि। पहले उदाहरण की व्याख्या में भाष्यकार सायणाचार्य ने विश्वध शब्द की

९१—उय्युञ्जन्ति सतीमन्तो[1] न निकेते रमन्ति ते।
हंसा व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहन्ति ते ॥ २ ॥
[उद्युञ्जते[2] स्मृतिमन्तो न निकेते रमन्ते ते।
हंसा इव पल्वलं हित्वा ओकमोकं जहति ते ॥ २ ॥]

यह व्युत्पत्ति बतायी है—"विश्वशब्दात्तसिलः सकारलोपो धत्वं च पृषोदरादित्वात्"। दूसरे उदाहरण में उन्होंने अर्थ बताया है—"विश्वस्मिन् काले विश्वप्रकारैर्वा।" कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त 'विश्वध' वैदिक अनियम का एक उदाहरण है। अतः उसके सादृश्य से 'सर्वध' पद का अस्तित्व मानना और उससे पालि 'सब्बधि' पद को सिद्ध करने का प्रयास पाश्चात्त्य प्रौढ़िवाद मात्र है। 'सब्बधि' को एक अनियमित पद मान लेना ही उचित हैं।

१. सतीमन्त=सति + मन्त। 'दीघं (कच्चायन १।३।३)' इस सूत्र के अनुसार 'इ' कार का दीर्घ हुआ है। सति=स्मृति (सं०)। यहाँ "ऋतोऽत्" (प्रा० प्र० १।२७) सूत्र के अनुसार ऋकार को अकार आदेश और 'अधोमनयाम् (प्रा० प्र० ३।२) सूत्र के अनुसार मकार का लोप हुआ है। कच्चायन व्याकरण के अनुसार 'सति' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित है—

'सर' धातु (सर गतिचिन्ताहिंसासद्दे, धातुमञ्जूषा ५८) से परे 'ति' प्रत्यय होता है और 'रकारो य' (४।३।१७) सूत्र के द्वारा 'र' कार का लोप हो जाता है।

बौद्ध प्रस्थान में 'सति' शब्द का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ सति (अर्थात् स्मृति) शब्द का अर्थ केवल स्मरण या चिन्तन मात्र नहीं है। 'सति' सप्त बोधि अङ्गों में एक है (देखिये दीघनिकाय, २रा भाग पृ० ६४, नालन्दा संस्करण)। आष्टाङ्गिक मार्ग में 'सम्मा सति' का स्थान सप्तम है। 'सति' शब्द का अर्थ प्रायशः चैतन्य या चेतनता भी होता है, जैसे "अत्थि कायोति वा पनस्स सति पच्चुपट्ठिता होति (दीघनिकाय, २रा भाग, पृ० २१८ ना० स०)," अथवा स्वगत चैतन्य का अनुभव, (दीघनिकाय २रा भाग, पृ० २५), आदि।

२. उय्युञ्जन्ति=उद्युञ्जते (सं०)। यहाँ भाषाविज्ञान के साधारण समीकरण (assimilation) के नियम से 'द्यु' य्यु में परिवर्तित हुआ है। प्राकृत भाषाओं में 'द्य' के स्थान पर 'ज्ज' होने का नियम (त्यथ्यद्यां चछजाः, शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ प्रा० प्र० ३।२७, ३।५०), जो पालि में भी 'विज्जा'

स्मृतिमान् लोग उद्योग करते हैं। वे गृह में रमण नहीं करते हैं। जिस प्रकार हंस जलाशय का परित्याग कर चले जाते हैं, उसी प्रकार वे लोग गृहों को त्याग देते हैं ॥ २॥

जेतवन बेलट्ठिसीस

९२—येसं सन्निचयो नत्थि ये परिञ्ञातभोजना[1]।
सुञ्ञतो अनिमित्तो[2] च विमोक्खो येसं[3] गोचरो।
आकासे व सकुन्तानं गति तेसं दुरन्नया ॥ ३ ॥
[येषां सन्निचयो नास्ति ये परिज्ञातभोजनाः।
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो येषां गोचरः।
आकाश इव शकुन्तानां गतिस्तेषां दुरन्वया[4] ॥ ३ ॥]

आदि शब्दों में उपयुक्त होता है उसका यहाँ व्यतिक्रम हो गया है। २३५ सं० गाथा के 'उय्योग' शब्द के अर्थ 'गमन' के अनुसार, पण्डित मैक्समूलर यहाँ गमन (depart) अर्थ चाहते हैं। किन्तु यहाँ 'प्रयास करना' अर्थ ही प्रसङ्ग के अनुसार ठीक बैठता है। देखिए अट्ठकथा में, "तत्थ उय्युञ्जन्ति सतीमन्तोति सतिवेपुल्लप्पत्ता खीणासवा अत्तना पटिवद्धगुणेसु झानविपस्सनादिसु आवज्जन-समावज्जन वुट्ठानादिट्ठानपच्चवेक्खणादीहि युञ्जन्ति घटेन्ति।"

१. भोजन के विषय में तीन परिज्ञाएँ (परिञ्ञा) कही गई हैं :—ञात परिञ्ञा, तिरणपरिञ्ञा और पहानपरिञ्ञा (देखिए—अट्ठकथा)।

२. अनिमित्त—निमित्त अर्थात् कारणसे रहित, पुनर्जन्मादि दुःखों के कारण का अभाव। अर्थात् जिस निर्वाण को एक बार प्राप्त करने के बाद फिर सांसारिक दुःखों को अनुभव करने का कोई कारण नहीं रहेगा। टीकाकार बुद्धघोष के मतानुसार रागादि कारणों से विमुक्ति इस गाथा का प्रतिपाद्य है। "रागादिनिमित्ताभावेन अनिमित्तं, तेहि च विमुत्तंति अनिमित्तो विमुक्खो" (अट्ठकथा) ॥

३. सिंहलदेशीय पाठ—यस्स।

४. प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा किए हुए प्रायः सभी अनुवादों में 'गति दुरन्नया' (गतिर्दुरन्वया) का अर्थ 'गति अज्ञेय' 'कठिनाई से जानने योग्य' (देखिए मैक्समूलर कृत अंग्रेजी अनुवाद—Difficult to understand) ऐसा किया गया है। किन्तु हमारे विचार के अनुसार 'दुरन्वया' का 'दुः दुःखेन अन्वयोऽनुगमनं यस्याः' अर्थात् 'कठिनाई से अनुसरण करने योग्य' ऐसा शब्दार्थ

जो वस्तुओं का संचय[1] नहीं करते हैं, जिनका भोजन परिज्ञात है, जिन्हें शून्यता-स्वरूप तथा निमित्तरहित मोक्ष दिखाई पड़ता है, उनकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है जिस प्रकार से आकाश में पक्षियों की गति कठिनाई से जानने योग्य होती है ॥ ३ ॥

वेळुवन अनुरुद्ध थेर

९३—यस्सासवा परिक्खीणा आहारे च अनिस्सितो ।
सुञ्ञतो अनिमित्तो च विमोक्खो यस्स गोचरो ।
आकासे व सकुन्तानं पदं तस्स दुरन्नयं ॥ ४ ॥
[यस्यास्रवाः परिक्षीणा आहारे च अनिःसृतः ।
शून्यतोऽनिमित्तश्च विमोक्षो यस्य गोचरः ।
आकाश इव शकुन्तानां पदं तस्य दुरन्वयम् ॥ ४ ॥]

जिसके चित्त के मैल क्षीण हो गए हैं, जो आहार में अनासक्त है, जिसे शून्यता-स्वरूप तथा निमित्त-रहित मोक्ष दिखाई पड़ता है, उसकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है, जिस प्रकार से आकाश में पक्षियों की गति कठिनाई से जानने योग्य होती है ॥ ४ ॥

पूब्बाराम महाकच्चान थेर

९४—यस्सिन्द्रियानि समथं गतानि अस्सा तथा सारथिना सुदन्ता ।
पहीनमानस्स अनासवस्स देवा पि तस्स पिहयन्ति तादिनो ॥५॥
[यस्येन्द्रियाणि शमथ गतानि अश्वा यथा सारथिना सुदान्ताः ।
प्रहीणमानस्य अनास्रवस्य देवा अपि तस्मै स्पृहयन्ति तादृशः ॥५॥]

होता है । महाभारत के निम्नलिखित श्लोक से इसकी तुलना हो सकती है—
"शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके ।
पदं यथा न दृश्यते तथा ज्ञानविदां गतिः ॥" —शान्तिपर्व, १८१।१९

१. सन्निचय का अर्थ वस्तुसञ्चयमात्र ही नहीं, परन्तु किसी पारमार्थिक वस्तु का सञ्चय भी समझा जाता है । बौद्धशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार सन्निचय दो प्रकार के होते हैं—कर्मसन्निचय और प्रत्यय-सन्निचय; 'द्वे सन्निचया—कम्मसन्निचयो, पच्चयसन्निचयो च' (अट्ठकथा) । अथवा आमिससन्निचय और धम्मसन्निचय; यथा 'द्वेमे, भिक्खवे सन्निचया, आमिससन्निचयो च धम्मसन्निचयो च (अङ्गुत्तरनिकाय, भाग १, पृ० ८६, ना० सं०) ।

जिस प्रकार सारथी के द्वारा घोड़ों का दमन किया जाता है, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ शान्ति को प्राप्त हो गई हैं, ऐसे अभिमान रहित और आस्रव-विहीन मनुष्य की देवतागण भी चाह करते हैं ॥ ५ ॥

जेतवन सारिपुत्त थेर

९५—पठवीसमो नो विरुज्झति इन्द्रखीलूपमो तादि सुब्बतो ।
रहदो[1] व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो[2] ॥ ६ ॥
[पृथिवीसमो न विरुध्यते इन्दकिलोपमस्तादृक् सुव्रतः ।
ह्लद इवापेतकर्दमः संसारा न भवन्ति तादृशः ॥ ६ ॥]

जो पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होता, जो इन्द्र के स्तम्भ के समान व्रत में दृढ़ है, जो जलाशय के समान कीचड़ से शून्य है, उस मनुष्य के लिए संसार नहीं होता ।। ६ ॥

जेतवन कोसम्बिभासित तिस्स

९६—सन्तं तस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च[3] ।

---

१. रहद = ह्लद । यहाँ भाषाविज्ञान सूत्र के अनुसार वर्ण-विपर्यय (अर्थात् metathesis) तथा स्वरभक्ति (anaptyxis) ये दो परिवर्तन ही उपस्थित हैं ।

२. यहाँ पृथिवी तथा इन्द्रकील की दी गयी उपमा के आख्यान में—भदन्त बुद्धघोष ने कहा—"यथा नाम पठवियं सुचीनि गन्धमालादीनि पि निक्खिपन्ति, असुचीनि मुत्तकरीसादीनि पि निक्खपन्ति, यथा नाम नगरद्वारे निक्खित्तं इन्दखीलं, दारकादयो ओमुत्तेन्ति पि ऊहदन्ति पि । अपरे पन तं गन्ध-मालादीहि सक्कोरन्ति, तत्थ पठविया इन्दखीलस्स च नेव अनुरोधो उप्पज्जति न विरोधो ।"

अर्थात् जैसे पृथिवी तथा इन्द्रकील अवमान तथा सत्कार दोनों में समान अविचलित रहते हैं वैसा ही रहना चाहिए ।

तुलनीय—तुल्यनिन्दास्तुतिमौंनी'—गीता १२।१९ ।

अथवा—

न हृष्यत्यात्मसंमाने नावमानेन तप्यते ।

गाङ्गो ह्लद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ।।—महा०, उद्योगपर्व ३३।२६

३. मानसिक, वाचिक और कर्मगत (या कायिक) शान्ति के ये तीन

सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो[1] ॥ ७ ॥
[शान्तं तस्य मनो भवति शान्ता वाक् च कर्म च ।
सम्यग्ज्ञानविमुक्तस्य उपशान्तस्य तादृशः ॥ ७ ॥]

जो मनुष्य यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से विमुक्त और उपशान्त हो गया है, ऐसे मनुष्य का मन शान्त हो जाता है, उसकी वाणी और कर्म शान्त होते हैं ॥७॥

प्रकार बौद्ध और आर्षशास्त्रों में विस्तृत रूप से बताये गये हैं। शान्ति का यह प्रकारभेद बौद्धशास्त्र की ही देन है या नहीं। इसके बारे में, वेबर, कोप्पेन, मैक्समूलर आदि विद्वानों ने बहुत तर्क उपस्थित किये हैं जिसका निष्कर्ष मैक्स-मूलर संस्करण में देखा जा सकता है। वस्तुतः पाप और उसकी शान्ति इन दोनों ही का वैसा त्रिविध भेद बहुत प्राचीन काल से सभी जाति के मनुष्यों में प्रचलित था। मनुसंहिता में शुभाशुभ कर्मों के वैसे तीन प्रकारभेद किये गये हैं—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ १ ।३

महाभारत में भी ऐसा वचन मिलता है—

ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा ।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ शान्तिपर्व११०।१७

अथवा

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥-शान्ति पर्व १७४।५४, १७५।२७

१. 'तादी' शब्द का षष्ठी एकवचन में तादिनो रूप होता है। जैसा संस्कृत में 'स इव दृश्यते' इस विग्रह से तादृश्, तादृश और तादृक्ष (पा० ६।३।८९·९०) ये तीन पद सिद्ध होते हैं वैसा ही पालि भाषा में भी तादी, तादिक्खो और तादिसो रूप होते हैं।

सूत्र : इयतमकिएसानमन्तस्सरो दीघं क्वचि दुसस्स गुणं दो रं सक्खी च।
—कच्चायन ४।६।१९

वस्तुतः संस्कृत 'तादृश्' शब्द का अन्त्य हल् वर्ण 'श्' प्राकृत भाषा में लुप्त हो जाता है ('अन्त्यहलः' सिद्धहेम० ८।४।५; अर्थात् प्रातिपदिक संज्ञक शब्द के अन्त्य हल् का लोप हो जाता है)। 'ऋ' वर्ण के स्थान पर कभी-कभी 'इ' कार आदेश भी हो जाता है (इदृष्यादिषु प्रा० प्र० १।२८ इस सूत्र का व्यापक रूप से प्रयोग होने से)।

जेतवन सारिपुत्त थे

९७—अस्सद्धो[1] अकतञ्ञू[2] च सधिच्छेदो[3] च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो ॥ ८॥
[अश्रद्धोऽकृतज्ञश्च सन्धिच्छेदश्च यो नरः।
हतावकाशो वान्ताशः स वै उत्तमपुरुषः ॥ ८॥

जो मनुष्य (अन्ध) श्रद्धा रहित है, जो अकृत (निर्वाण) को जान वाला है, जो बन्धनों को काटने वाला है, जो अवकाश रहित है और जिस तृष्णा का त्याग कर दिया है वही उत्तम पुरुष है ॥ ८ ॥

जेतवन खदिरवनिय रेवत थे

९८—गामे वा यदि वा रञ्ञे निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमि रामणेय्यकं ॥ ९ ॥
[ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये निम्ने वा यदि स्थले।
यत्रार्हन्तो विहरन्ति सा भूमी रमणीयका ॥ ९ ॥]

जहाँ अर्हत् लोग विचरण करते हैं—चाहे वह ग्राम हो या अरण्य हो नीचा स्थान हो या ऊँचा स्थान हो वह भूमि रमणीक है ॥ ९ ॥

---

१. अस्सद्ध (अश्रद्ध=श्रद्धारहित। यहाँ श्रद्धा शब्द का ऐसा विशे अर्थ में प्रयोग है, जो अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ता है। शास्त्र, गुरुवाक्य आ में निष्ठापूर्ण विश्वास ही श्रद्धा कहलाती है जिसकी बड़ी प्रशंसा सभी शास्त्रों (बौद्ध एवं आर्ष) की गयी है। यहाँ श्रद्धा शब्द का अर्थ है तर्कशून्य विश्व या 'अन्धविश्वास'। इसीलिए अश्रद्ध को उत्तम पुरुष कहा जाता है। श्री बु भगवान् ने प्रकृत श्रद्धा की प्रशंसा ही की है। देखिए यमकवग्ग, ८म गाथा "सद्धं आरद्धवीरियं"।

२. यहाँ प्रयुक्त 'अकञ्ञू' (अकृतज्ञ) शब्द का भी अर्थ प्रचलित अ से भिन्न है। 'कृत' शब्द का अर्थ है जो किसी के द्वारा किया गया, अर्थ कृत्रिम। अतः, अकृत=अकृतिम, अविनाशी। बौद्ध सिद्धान्त के अनुस केवल निर्वाण ही 'अकत' अर्थात् अकृत और अविनाशी है। तब 'अकतञ्ञू' का अर्थ है—निर्वाण को जानने वाला। (यहाँ भदन्त बुद्धघोष ने कहा,—"अक निब्बानं जानातीति अकतञ्ञू—सच्छीकतनिब्बानो ति अत्थो)।

३. सन्धि=संसार सन्धि (बुद्धघोष)।

जेतवन अरञ्ञक भिक्खु

९९—रमणीयानि अरञ्ञानि यत्थ न रमती जनो।
वीतरागा रमिस्सन्ति न ते कामगवेसिनो ॥ १० ॥
[रमणीयान्यरण्यानि यत्र न रमते जनः।
वीतरागा रंस्यन्ते न ते कामगवेषिणः ॥ १० ॥]

उन रमणीय अरण्यों में जहाँ साधारण लोग रमण नहीं करते, वहाँ काम-वासनाओं के पीछे न भटकनेवाले वीतराग जन रमण करेंगे ॥ १० ॥

—:o:—

सहस्सवग्गो अट्ठमो

(सहस्रवर्गोऽष्टमः)

वेळु वन तम्बदाठिक चोरघात

१००—सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता ।
एक अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति[1] ॥ १ ॥
[सहस्रमपि चेत् वाचोऽनर्थपदसंहिता ।
एकमर्थपदं श्रेयो यत् श्रुत्वोपशाम्यति ॥ १ ॥

निरर्थक पदों से युक्त सहस्र वचनों से भी सार्थक एक पद श्रेष्ठ है, जि
सुनकर शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १ ॥

वेळु वन दारुचीरिय थे

१०१—सहस्समपि चे गाथा अनत्थपदसंहिता ।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥ २ ॥
[सहस्रमपि चेद् गाथा अनर्थपदसंहिताः ।
एकं गाथापदं श्रेयो यत् श्रुत्वोपशाम्यति ॥ २ ॥

निरर्थक पदों से युक्त सहस्रों गाथाओं से भी एक गाथा पद श्रेष्ठ है, जि
सुनकर शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ २ ॥

जेतवन कुण्डलके

१०२—यो च गाथा सतं भासे अनत्थपदसंहिता ।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति ॥ ३ ॥
[यश्च गाथाः शतं भाषेतानर्थपदसंहिताः ।
एकं धर्मपदं श्रेयो यत् श्रुत्वोपशाम्यति ॥ ३ ॥]

जो मनुष्य निरर्थक पदों से युक्त सौ गाथाओं को भी कहे, उससे धर्म
एक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ३ ॥

१०३—यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो ॥ ४ ॥

---

१. तु०—"एक शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति

[यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषाञ्जयेत् ।
एकञ्च जयेदात्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः ॥ ४ ॥

जो मनुष्य युद्ध में हजारों मनुष्यों को हजारों बार जीत लेवे उससे बढ़कर युद्ध में जीतने वाला वह है जिसने अपने को जीत लिया है ॥ ४ ॥

जेतवन अनत्थपुच्छक ब्राह्मण

१०४—अत्ता ह वे जितं[1] सेय्यो या चायं[2] इतरा पजा ।
अत्तदन्तस्स पोसस्स[3] निच्चं सञ्ञतचारिनो ॥ ५ ॥

[आत्मा ह वै जितः श्रेयान् या चेतमितरा प्रजा ।
आत्मदान्तस्य पुरुषस्य नित्यं संयतचारिणः ॥ ५ ॥]

---

१. 'अत्ता' यह पुंलिङ्ग पद का विशेषण होने के कारण 'जितं' पद के स्थान पर 'जितो' इस पुंलिङ्ग पद का प्रयोग ही ठीक था। बुद्धघोष इसको लिङ्गव्यत्यय समझते हैं। (जितंति लिङ्गविपल्लासो)।

२. च + इयं = चायम् ।

सू० सरा सरे लोपं (कच्चायन—१।२।१)

पुब्बो च (वहीं १।२।५) ।

३. यहाँ प्रयुक्त पोस शब्द की व्युत्पत्ति विशेष चिन्तनीय है। यह तो 'पुरुष' (पालि—पुरिस) शब्द का ही एक रूप माना जाता है, किन्तु इसकी तर्कसम्मत व्युत्पत्ति पालि व्याकरणों में नहीं बतायी गई है। कच्चायन (सूत्र ४।६।५०) ने 'पूर' धातु से 'इस' प्रत्यय द्वारा 'पुरिस' शब्द को तो सिद्ध किया किन्तु स्वोपज्ञ वृत्ति में 'पोस' शब्द का उल्लेख मात्र कर छोड़ दिया, व्युत्पत्ति नहीं बतायी है। गाईगर आदि भाषाविज्ञानियों का अनुमान है कि इस शब्द का मूल हिन्दी-यूरोपीय 'पूर्ष' शब्द है जिससे 'पुरुष' यह वैदिक शब्द तथा 'पोस' यह पालि शब्द की उत्पत्ति हुई होगी (देखिए गाईगर कृत पालि व्याकरण पृ० ३०)। किन्तु यह अनुमान इसलिए हमें नहीं जँचता है कि साक्षात् रूप से हिन्दी-यूरोपीय भाषा से पालि शब्द की उत्पत्ति का दूसरा उदाहरण उपलब्ध नहीं है, एवं 'पोस' शब्द का प्रयोग पालि में भी केवल पद्य में ही मिलता है, गद्य में नहीं। अतः हमारे विचार से यह शब्द संकृतज 'पुरिस' शब्द से ही वर्ण लोप द्वारा सिद्ध हुआ होगा जो पद्य का छन्द के लिए किया गया था।

इन अन्य प्रजाओं के जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीतना श्रेष्ठ है। अपनी आत्मा को दमन करने वाले तथा नित्य संयत आचरण करने वाले पुरुष की—॥ ५ ॥

१०५—नेव देवो न गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा तथारूपस्स जन्तुनो[१] ॥ ६ ॥
[नैव देवो न गन्धर्वो न मारः सह ब्रह्मणा।
जितमपजितं कुर्यात् तथारूपस्य जन्तोः ॥ ६ ॥]

विजय को—इस प्रकार के प्राणी की विजय को—न देवता, न गन्धर्व और न ब्रह्मा सहित मार पराजय में परिवर्तित कर सकते हैं ॥ ६ ॥

वेळु वन — सारिपुत्तथेर मातुल

१०६—मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं।
एकं च भावितत्तानं मुहूर्त्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥ ७ ॥
[मासे मासे सहस्रेण यो यजेत शतं समाः।
एकञ्च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत्।
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥ ७ ॥]

एक ओर यदि मनुष्य प्रतिमास हजारों की दक्षिणा देकर सौ वर्षों तक यज्ञ करे और दूसरी ओर यदि वह परिशुद्ध मन वाले एक ही व्यक्ति का क्षणभर पूजन करे, तो सौ वर्षों तक किए गए यज्ञ से वह पूजन श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

वेळु वन — सारिपुत्तथेर भगिनेय्य

१०७—यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने।
एकं च भवितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥ ८ ॥
[यश्च वर्षशतं जन्तुरग्निं परिचरेद् वने।
एकञ्च भावितात्मानं मुहूर्तमपि पूजयेत् ॥
सैव पूजना श्रेयसी यच्चेद् वर्षशतं हुतम् ॥ ८ ॥]

---

१. यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि बौद्ध शास्त्रों में इन्द्र, वरुण, यम, ब्रह्मा आदि देवताओं का तथा गन्धर्व, यक्ष आदि देवयोनियों का अस्तित्व माना गया है। विशेष केवल यही है कि ये सब देव, गन्धर्व आदि भगवान्

एक ओर यदि मनुष्य सौ वर्षों तक वन में अग्नि की परिचर्या करे और
सरी ओर यदि वह परिशुद्ध मन वाले एक ही व्यक्ति का क्षण भर पूजन करे,
ौ वर्ष तक किए गए यज्ञ से वह पूजन श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

ळु वन सारिपुत्त सहायक ब्राह्मण

१०८—यं किंचि यिट्ठं च हुतं च[1] लोके
संवच्छरं यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्बं पि तं न चतुभागमेति
अभिवादना उज्जुगतेसु[2] सेय्यो[3] ॥ ९ ॥
[यत्किञ्चिदिष्टञ्च हुतञ्च लोके
संवत्सरं यजेत पुण्यापेक्षः।
सर्वमपि तन्न चतुर्भागमेति
अभिवादना ऋजुगतेषु श्रेयसी ॥ ९ ॥]

बुद्ध के अधीन और उनके भक्त हैं।

१. 'यिट्ठ व हुतं व'—ब्रह्मदेशीय पाठान्तर (छट्ठसंगायन सं०)।

२. उज्जु=ऋजु (संस्कृत), 'उद्दत्वादिषु' 'नीडादिषु'—प्राकृतप्रकाश १।२९, ३।१२।

३. इस गाथा के प्रकृत आशय में यज्ञादि कर्मों की सफलता का निरसन नहीं होता है। वस्तुतः श्रीमान् गौतम बुद्ध, यज्ञादि कर्मों की स्वर्गादि पारलौकिक फल साधनता के विषय में अविश्वासी नहीं थे, जैसे अविश्वासी थे अजित केसकम्बल आदि तत्कालीन नास्तिक आचार्य। जिनका कथन बौद्धशास्त्र में पूर्वपक्ष के रूप में दिखाई पड़ता है, तथा—'नत्थि महाराज दिन्नं नत्थि यिट्ठं, नत्थि हुतं नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परो लोको.....' (दीघनिकाय, १ला भाग, पृ० ४८ ना० स०)। श्रीमान् गौतम बुद्ध ने इन गाथाओं में उस दार्शनिक दृष्टि से कर्मकाण्ड की निन्दा की, जिस दृष्टि से मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥' १।२।१०

पुण्य की अभिलाषा करता हुआ मनुष्य लोक में वर्ष भर जो कुछ यज्ञ और हवन करता है, तो भी वह सरल वृत्ति वाले पुरुष के लिए की गई श्रेष्ठ अभिवादना के चौथाई भाग के बराबर नहीं है ॥ ९ ॥

अरञ्ञकुटिका दीघायुकुमार

१०९—अभिवादनसीलस्स निच्चं वद्धापचायिनो[1] ।

---

१. यहाँ ब्रह्मदेशीय पुस्तक में 'वुड्ढापाचायिनो' यह पाठान्तर मिलता है। संस्कृत 'वृद्ध' शब्द का 'वद्ध' रूप प्राकृतव्याकरण सम्मत है (देखिए—प्राकृत प्रकाश के १।२७ 'ऋतोऽत्' सूत्र की भामह कृत मनोरमा वृत्ति)। किन्तु प्राकृत व्याकरणानुसारी होते हुए भी यह 'वद्ध' रूप पालि व्याकरण के अनुकूल नहीं है। वहाँ तो 'वुड्ढ' रूप की ही मान्यता है और पालि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'वुड्ढ' (मोग्गल्लान के मतानुसार 'वड्ढ' भी) रूप सिद्ध होता है। इस रूप (वुड्ढ) को सिद्ध करने के लिए कच्चायन आदि पालि वैयाकरणों को बड़ा ही परिश्रम करना पड़ा। संस्कृत 'वृध्' ('वृधु वृद्धौ' पा० धा० ७५९) धातु का पालि रूप 'वड्ढ' ('वड्ढ संवड्ढने'—धातुमञ्जूषा २८; 'वड्ढ वुद्धियं'—मोग्गल्लान धातुपाठ १४०) ही उपलब्ध है 'वद्ध' नहीं। उस धातु से प्रयुक्त 'क्त' प्रत्यय का 'धढभहेहि धढा च' (कच्चायन ४।३।६) सूत्र द्वारा 'ढ' आदेश होता है 'डो ढकारे' (कच्चायन ४।५।६) सूत्र द्वारा पूर्व 'ढ' का 'ड' कार आदेश तथा 'क्वचि धातुविभत्तिपच्चयानं दीघविपरीतादेसलोपागमता च' (कच्चायन ३।४।३६) इस बाहुलक सूत्र द्वारा 'ड' का लोप और अकार का उकार आदेश होने से 'वुड्ढ' पद की सिद्धि हुई ('क्वचि धात्वा'दिना पुब्बडकारस्स लोपं च वकारावयवस्स अकारस्स उकारं च कत्वा स्युप्पत्तादिम्हि कते रूपं—कच्चायन वण्णना ४।५।६)। वैयाकरण मोग्गल्लान ने तो साक्षात् रूप से 'वुड्ढ' शब्द का उकार आदेश एक सूत्र द्वारा (वड्ढस्स वा ५।११२) मान लिया और उस से ही 'वुड्ढ' शब्द की सिद्धि हो गई। किन्तु वैयाकरणों का अनभिप्रेत 'वद्ध' पाठ कैसे प्राचीन सिंहली परम्परा में आ गया यह बात विशेष विवेचनीय है। वस्तुतः, 'वद्ध' रूप प्राचीन प्राकृत भाषाओं के, जिनके ऊपर ही शास्त्रीय पालिभाषा आधारित थी, प्रभाव से धम्मपद आदि ग्रन्थों में (जातकट्ठकथा—पञ्चम भाग पृ० १४०) में विद्यमान था। किन्तु 'वड्ढन्ति' आदि तिङन्त पदों को देखकर वैयाकरणों को 'वुड्ढ' धातु ही मानना पड़ा और इसलिए

चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं[1] ॥ १० ॥
[अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धापचायिनः ।
चत्वारो धर्मा वर्धन्ते आयुर्वर्णः सुखं बलम् ॥ १० ॥]

जो अभिवादनशील है और जो सदा वृद्धजनों की सेवा करने वाला है उस मनुष्य की चार वस्तुएँ बढ़ती हैं—आयु, वर्ण, सुख और बल ॥ १० ॥

जेतवन संकिच्च सामणेर

११०—यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिना ॥ ११ ॥
[यश्च वर्षशतं जीवेद् दुःशीलोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः शीलवतो ध्यायिनः ॥ ११ ॥]

दुराचारी और असंयत रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है । पर सदाचारी और संयत रहकर एक दिन का जीवित रहना श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥

जेतवन (खाणु) कोण्डञ्ञ थेर

१११—यो च वस्ससत जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञावन्तस्स[2] झायिनो ॥ १२ ॥
[यश्च वर्षशतं जावेद् दुष्प्रज्ञोऽसमाहितः ।
एकाहं जीवितं श्रेयः प्रज्ञावतो ध्यायिनः ॥ १२ ॥]

दुर्बुद्धि और असंयत रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है । पर बुद्धिमान् और ध्यानी रहकर एक दिन का जीवित रहना भी श्रेष्ठ है ॥१२॥

जेतवन सप्पदासक थेर

११२—यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो विरियमारभतो दळ्हं॥ १३ ॥

उन्होंने 'वद्ध' पद की उपेक्षा की । ब्रह्मदेशीय पाठ परवर्ती समय में व्याकरण देखकर संशोधित किया गया होगा ।

१. मनुसंहिता में एक ऐसा श्लोक उपलब्ध है, जो कि प्रायः अक्षरशः इस गाथा से मिलता जुलता है—
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥—२।१२१

२. पाठान्तर—पञ्चवन्सस्स । जिसमें पञ्ञा शब्द का आकार, 'रस्सं (कच्चायन १।३।४)' सूत्र के अनुसार ह्रस्व हो जाता है ।

[यश्च वर्षशतं जीवेत् कुसीदो हीनवीर्यः ।
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्यमारभतो दृढ़म् ॥ १३ ॥]

आलसी और वीर्यहीन रहकर सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है। पर, वीर्ययुक्त और दृढ़ता पूर्ण रहकर एक दिन का जीवित रहना भी श्रेष्ठ है ॥१३॥

जेतवन पटाचारा थेरी

११३—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयव्ययं[१] ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयव्ययं[२] ॥ १४ ॥
[यश्च वर्षशतं जीवेत्, अपश्यन्नुदयव्ययम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यत उदयव्ययम् ॥ १४ ॥]

(सांसारिक वस्तुओं के) उत्पत्ति और विनाश को न देखते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है । पर, उत्पत्ति और विनाश को देखते हुए एक दिन का जीवित रहना भी श्रेष्ठ है ॥ १४ ॥

जेतवन किसागोतमी

११४—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं ॥ १५ ॥
[यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन्नमृतं पदम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतोऽमृतं पदम् ॥ १५ ॥]

अमृत के स्थान (=निर्वाणपद) को न देखते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है । पर अमृत के स्थान को देखते हुए एक दिन का जीवित रहना भी श्रेष्ठ है ॥ १५ ॥

जेतवन बहुपुत्तिका थेरी

११५—यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं धम्ममुत्तमं ।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो धम्ममुत्तमं ॥ १६ ॥
[यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् धर्ममुत्तमम् ।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतो धर्ममुत्तमम् ॥ १६ ॥]

उत्तम धर्म को देखते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना निरर्थक है । पर उत्तम धर्म को न देखते हुए एक दिन का जीवित रहना भी श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

—:o:—

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—'उदयब्बयं' ।

२. संस्कार आदि पञ्च स्कन्धों के 'उदय' अर्थात् विनाश होते हैं—ऐसी भावना बौद्ध-साधना का एक अंग है ।

पापवग्गो नवमो

(पापवर्गो नवमः)

जेतवन — चलेकसाटक ब्राह्मण

११६—अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो पुञ्ञं पापस्मिं रमती[1] मनो॥ १॥
[अभित्वरेत कल्याणे पापात् चित्तं निवारयेत्।
तन्द्रां हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः॥ १॥]

मनुष्य कल्याणकारी कार्य करने के लिए शीघ्रता करे और पाप से चित्त को निवारण करे। यदि मनुष्य पुण्यकारी कार्यको धीमी गति से करेगा तो उसका मन पाप में लग जायेगा॥ १॥

जेतवन — सेय्यसक थेर

११७—पापं चे पुरिसो कयिरा न तं[2] कयिरा पुनप्पुनं।
न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो॥ २॥
[पापं चेत् पुरुषः कुर्यान् न तत्कुर्यात् पुनः पुनः।
न तस्मिन् छन्दं[3] कुर्यात् दुःखः पापस्योच्चयः॥ २॥]

---

१. रमति + मनो = रमती मनो। बाद में व्यञ्जन वर्ण हो तो पूर्व ह्रस्व का कहीं कहीं दीर्घ हो जाता है। सूत्र—दीघं (कच्चायन १।३।३)। वस्तुतः पालिभाषा में स्वरवर्णों के ह्रस्वत्व और दीर्घत्व का परिवर्तन हमेशा ऐसे अनियमित रूप से हुआ है कि ह्रस्वत्व और दीर्घत्व विधायक 'रस्सं' 'दीघं' आदि सूत्र 'विश्वतोमुख' नहीं होने पाए। ऐसे सूत्रों के द्वारा केवल कुछ अनियमित प्रयोगों को सिद्धि हुई है।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—नं।

३. छन्द शब्द का मुख्य अर्थ है 'अभिप्राय' या 'वश' (देखिए: "अभिप्रायवशौ छन्दौ"—अमरकोष ३।३।८८)। वासना या पूर्वसंकल्प के वश हो कर किसी पाप का आचरण दुःख का कारण होता है।

यदि मनुष्य पाप करता है तो उसे बार-बार न करे। उस पाप में स्वच्छन्दतापूर्वक रत न होवे (क्योंकि) पाप का संचय दुःखकारी होता है ॥ २ ॥

जेतवन　　　　　　　　　　　　　　　　लाजदेवधीता

११८—पुञ्ञं चे पुरिसो कयिरा कयिराथेत[1] पुनप्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुञ्ञस्स उच्चयो ॥ ३ ॥
[पुण्यञ्चेत् पुरुषः कुर्यात् कुर्यादेतत्पुनः पुनः।
तस्मिन् छन्दं कुर्यात् सुखः पुण्यस्योच्चयः ॥ ३ ॥]

यदि मनुष्य पुण्य करता है तो उसे बार-बार करे, उस पुण्य में स्वच्छन्दतापूर्वक रत होवे, (क्योंकि) पुण्य का संचय सुखकारी होता है ॥ ३ ॥

जेतवन　　　　　　　　　　　　　　　　अनाथपिण्डिक

११९—पापो पि पस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति ॥ ४ ॥
[पापोऽपि पश्यति भद्रं यावत् पापं न पच्यते।
यदा च पच्यते पापमथ पापो पापानि पश्यति[2] ॥ ४ ॥]

पाप करने वाला मनुष्य तब तक भलाई देखता है, जब तक कि पाप का परिणाम नहीं होता। जब पाप का परिणाम होता है, तब वह पापों को देखता है ॥ ४ ॥

१२०—भद्रो पि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति।
यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति ॥ ५ ॥
[भद्रोऽपि पश्यति पापं यावद् भद्रं न पच्यते।
यदा च पच्यते भद्रमथ भद्रो भद्राणि पश्यति ॥ ५ ॥]

भला करने वाला मनुष्य तब तक पाप को देखता है जब तक कि भलाई का परिणाम नहीं होता। जब भलाई का परिणाम होता है, तब वह भलाई को देखता है ॥ ५ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—कयिरा नं।

२. तुलना कीजिए—

ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ?
कालोऽप्यङ्गीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये ॥
—वाल्मीकिरामायण, अरण्यकाण्ड ४९।२७

जेतवन असञ्ञतपरिक्खार भिक्खु

१२१—मावमञ्ञेथ[1] पापस्स न मन्तं अगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो पि पूरति।
बाला पूरति पापस्स थोकथाकं[2] पि आचिनं ॥ ६ ॥
[माऽवमन्येत पापस्य न मां तदागमिष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते।
बालः पूरयति पापस्य स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥६॥]

मनुष्य पाप की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आवेगा। पानी की बूँद बूँद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है। इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य थोड़ा थोड़ा भी संचय करते हुए पाप (का घड़ा) भर लेता है ॥६॥

जेतवन विळालपादक सेट्ठी

१२२—मावमञ्ञेथ पुञ्ञस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भो पि पूरति।
धीरो पूरति पुञ्ञस्स थोकथोकं[2] पि आचिनं ॥ ७ ॥]
[माऽवमन्येत पुण्यस्य न मां तदागमिष्यति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोऽपि पूर्यते।
धीरः पूरयति पुण्यस्य स्तोकं स्तोकमप्याचिन्वन् ॥ ७ ॥

मनुष्य पुण्य की अवहेलना न करे कि वह मेरे पास नहीं आवेगा। पानी की बूँद बूँद गिरने से जल का घड़ा भी भर जाता है। इसी प्रकार धैर्यशाली मनुष्य थोड़ा-थोड़ा भी संचय करते हुए पुण्य (का घड़ा) भर लेता है ॥ ७ ॥

जेतवन महाधनवाणिज

१२३—वाणिजो व भयं मग्गं अप्पसत्थो[3] महद्धनो।
विसं जीवितुकामो व पापानि परिवज्जये ॥ ८ ॥

---

१. सिंहल और स्यामदेशीय पाठान्तर—माप्यमञ्ञेथ। यहाँ 'प्प' इस संयुक्त व्यञ्जन के पूर्व 'आ' यह दीर्घ स्वर रहना पालिभाषा की प्रकृति के विरुद्ध है।

२. उभयत्र ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—थोकं थोकं पि।

३. अप्पसत्थो=अल्पशस्त्रः (चारुचन्द्र वसु)।

[वाणिज इव[1] भयं मार्गम् अल्पसार्थो[2] महाधनः।
विषं जीवितुकाम इव पापानि परिवर्जयेत् ॥ ८॥]

जिस प्रकार बड़ी सम्पत्ति वाला व्यापारी थोड़े साथियों के होने के कारण भययुक्त मार्ग को त्याग देता है, इसी प्रकार जीने की इच्छा वाला मनुष्य पापों को विष के समान परित्याग कर दे ॥ ८॥

वेळुवन कुक्कुटमित्तनेसाद

१२४—पाणिम्हि चे वणो नास्स[3] हरेय्य पाणिना विसं।
नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ॥ ९॥
[पाणौ चेत् व्रणो नास्य हरेत् पाणिना विषम्।
नाऽव्रणं विषमन्वेति नास्ति पापमकुर्वतः ॥ ९॥]

यदि मनुष्य के हाथ में घाव न हो, तो वह हाथ से विष को उठा सकता है। विष घाव रहित अंग पर प्रभाव नहीं डालता। इसी प्रकार न करने वाले को पाप नहीं लगता ॥ ९॥

जेतवन कोक सुनखलुद्दक

१२५—यो अप्पदुट्ठस्स नरस्य दुस्सति
सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति[4] पापं

१. वाणिज शब्द की छाया में 'वणिक्' लिखने को (जैसा चारुचन्द्र वसु ने लिखा है) कोई जरूरत नहीं है (राहुल जी का वाणिगिव लिखना तो एक दम भ्रमात्मक ही है) क्योंकि 'वाणिज' शब्द शुद्ध संस्कृत शब्द ही है जिसका प्रयोग स्वयं महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी ६।३।१३) किया और जिसका उल्लेख अमरकोषादि सभी-प्राचीन संस्कृत अभिधान में मिलता है। यह बात अवश्य सत्य है कि वाणिज शब्द का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में अधिकतया उपलब्ध नहीं होता है।

२. इकट्ठे हुए अनेक श्रेष्ठियों का संघ सार्थ कहलाता है। जैसे "सार्थो वणिक्समूहे स्यात् (मेदिनी)"।

३. यहाँ 'नस्स' पाठ अधिक सङ्गत है क्योंकि पालि और प्राकृत भाषा में प्रायः संयोग के पूर्व स्वर ह्रस्व हो जाता है।

४. यहाँ 'पटियेति (P.T.S.घृत)' पाठ छन्द की दृष्टि से अधिक समीचीन

सुखमो[1] रजो पटिवातं व खित्तो ॥ १० ॥
[योऽप्रदुष्टाय नराय दुष्यति शुद्धाय पुरुषायानञ्जनाय[2] ।
तमेव बालं प्रत्येति पापं सूक्ष्मं रजः प्रतिवातमिव क्षिप्तम् ॥ १० ॥

प्रतीत होता है। अवश्य संस्कृत 'प्रत्येति' के पालि रूप 'पटियेति' 'पच्चेति' दो ही हो सकते हैं। 'पति' उपसर्ग को कहीं कहीं 'पटि' आदेश हो सकता है (क्वचि पटि पतिस्स=कच्चायन १।५।७)। पटि + एति=पटियेति। सूत्र—यवमदनतरळा चागमा (कच्चायन १।४।६); अर्थात् बाद में स्वरवर्ण हो तो कहीं कहीं विकल्प से, य, व, म, द, न, त, र, ळ आगम होते हैं। अथवा, पति + एति पच्चेति, बाद में स्वरवर्ण हो तो कहीं कहीं 'ति' को 'च' आदेश होता है (सब्बोचन्ति—कच्चायन १।२।८) और स्वर वर्ण के बाद आने वाले व्यञ्जन वर्ण को कहीं कहीं द्वित्व होता है (परद्वेभावो ठाने—कच्चायन १।३।३)। वस्तुतः, 'प्रत्येति' यह परिनिष्ठित संस्कृत पद प्राकृत नियम के अनुसार 'पच्चेति' हो जाता है ('र' लोप-'सर्वत्र लवराम्' 'त्य' को च्च आदेश-त्यथ्यद्यां चछजाः, शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ—प्राकृत प्रकाश ३।३, ३।२७, ३।५०) उस रूप की सिद्धि के लिए पालिस्वान्तत्र्यवादी वैयाकरणों को बड़ा ही क्लिष्ट प्रयास करना पड़ा।

१. सूक्ष्म 7 सूख्म 7 सुखुम। विप्रकर्ष (anaptyxis) का उदाहरण।

२. अनङ्गणस्स=अनञ्जनाय। राहुल जी जैसे बड़े बौद्ध विद्वान् भी स्वर्गत चारुचन्द्र वसु का निर्विकार अनुकरण करते हुए पालि 'अनङ्गणस्स' पद की संस्कृत छाया में 'अनङ्गणाय' ऐसा लिखकर हिन्दी अनुवाद में उसी का अर्थ 'पापरहित' लिखते हैं। किन्तु संस्कृत अङ्गन (या अङ्गण शब्द का अर्थ 'पाप' कैसे हो सकता है यह बात वास्तविक सोचने योग्य है। भदन्त बुद्धघोष ने प्रस्तुत स्थल पर 'अनङ्गणस्स' पद का अर्थ 'निक्किलेसस्स' लिखा है। संस्कृत अङ्गन (या अङ्गण) शब्द जहाँ पालि में आया, वहाँ तो भदन्त जी व्याख्यान में 'अङ्गणे मनुस्सानं सञ्चरणट्ठाने अनावटभूमिभागे' आदि लिखते हैं। वस्तुतः प्रस्तुत 'अङ्गण' शब्द संस्कृत 'अञ्जन' शब्द का एक विकृत रूप है, भाषावैज्ञानिक नियमों से जिसका व्याख्यान दुरूह जैसा प्रतीत होता है)। संस्कृत 'अञ्जन' शब्द का मूक अर्थ यद्यपि 'कज्जल' है तथापि वह संस्कृत वाङ्मय में बुद्धघोष कथित उपर्युक्त अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—'निरञ्जनं परम साम्यमुपैति' (मुण्डकोपनिषद् ३।१।३)। इसी मन्त्र का व्याख्यान करते हुए शङ्कराचार्यजी ने लिखा—'निरञ्जनो निर्लेपो विगतक्लेशः...' आदि जो विशेष महत्त्वपूर्ण है।

जो मूर्ख मनुष्य दोष रहित, शुद्ध और निर्मल पुरुष को दोष लगाता है, पाप उस मूर्ख का उसी प्रकार पीछा करता है, जिस प्रकार सूक्ष्म धूलि वायु के विपरीत फेंकी जाने पर पीछा करती है ॥ १० ॥

जेतवन मणिकार कुलूपग तिस्स थेर

१२६—गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो ।
सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा ॥ ११ ॥
[गर्भमेक उत्पद्यन्ते निरयं पापकर्मिणः ।
स्वर्गं सुगतयो यान्ति परिनिर्वान्त्यनास्रवाः ॥ ११ ॥]

कुछ लोग गर्भ में उत्पन्न होते हैं। पाप कर्म करने वाले लोग नरक में गिरते हैं। पुण्य कर्म करने वाले लोग स्वर्ग को जाते हैं और चित्त के मलों से रहित लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

जेतवन तीन भिक्खु

१२७—न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्रट्ठितो[1] मुञ्चेय्य पापकम्मा ॥ १२ ॥
[नान्तरिक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्र स्थितो मुच्येत पापकर्मणः ॥ १२ ॥]

न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों की गुफा में—जगत् में कोई ऐसा प्रदेश विद्यमान नहीं है, जहाँ प्रवेश करके स्थित हुआ मनुष्य पाप कर्म से मुक्त हो सके ॥ १२ ॥

निग्रोध आराम सुप्पबुद्ध सक्क

१२८—न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स ।
न विज्जति सो जगतिप्पदेसो यत्रट्ठितं नप्पसहेथ[2] मच्चु ॥ १३ ॥
[नान्तरिक्षे न समुद्रमध्ये न पर्वतानां विवरं प्रविश्य ।
न विद्यते स जगति प्रदेशो यत्र स्थितं न प्रसहेत मृत्युः ॥ १३ ॥]

आकाश में, समुद्र के मध्य में, अथवा पर्वतों की गुफा में कोई ऐसा प्रदेश विद्यमान नहीं है, जहाँ प्रवेश करके स्थित हुए मनुष्य को मृत्यु मार न सके ॥ १३ ॥

---

१. पाठान्तर—यत्थट्ठितो । २. पाठान्तर—पसहेय्य ।

दण्डवग्गो दसमो

(दण्डवर्गो दशमः)

जेतवन — छब्बग्गीय भिक्खु

१२९—सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ १॥
[सर्वे त्रस्यन्ति दण्डस्य सर्वे बिभ्यति मृत्योः।
आत्मानमुपमां कृत्वा न हन्यान्न घातयेत्॥ १॥]

सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं। सब मनुष्य मृत्यु से भय खाते हैं। अपने समान (सभी को) जानकर मनुष्य न किसी को मारे और न मारने को प्रेरित करे॥ १॥

जेतवन — छब्बग्गीय भिक्खु

१३०—सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये[1]॥ २॥
[सर्वे त्रस्यन्ति दण्डस्य सर्वेषां जीवितं प्रियम्।
आत्मानमुपमां कृत्वा न हन्यान्न घातयेत्॥ २॥]

सब मनुष्य दण्ड से डरते हैं। सब मनुष्यों को जीवन प्रिय हैं। अपने समान (सभी को) जानकर मनुष्य न किसी को मारे न मारने को प्रेरित करे॥ २॥

---

१. तुलना कीजिए—
प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥ हितोपदेश।

आत्मौपम्येन अर्थात् 'सब को अपने समान जानना' के उपदेश आर्षशास्त्रों में कई जगह उपलब्ध होते हैं। देखिए—श्रीमद्भगवद्गीता ६।३२, वाल्मीकि रामायण ५।१९।७, महाभारत, अनुशासनपर्व ११३।६,८ आदि। पाश्चात्य पण्डित डॉ० फ़ज़बोल ने अपने संस्करण में बड़े परिश्रम और प्रशंसनीय विद्वत्ता के साथ महाभारतादि संस्कृत ग्रन्थों से महत्त्वपूर्ण वचनों का निर्देश किया।

जेतवन सम्बहुल कुमार

१३१—सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं[१] ॥ ३ ॥
[सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिनस्ति।
आत्मानः सुखमिच्छन् प्रेत्य स न लभते सुखम् ॥ ३ ॥]

जो मनुष्य सुख की कामना करने वाले प्राणियों को अपने सुख की कामना करते हुए दण्ड द्वारा मार डालता है, मरकर वह सुख प्राप्त नहीं करता है ॥३॥

१३२—सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते[२] सुखं ॥ ४ ॥
[सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिनस्ति।
आत्मनः सुखमिच्छन् प्रेत्य स लभते सुखम् ॥ ४ ॥]

जो मनुष्य सुख की कामना करने वाले प्राणियों को, अपने सुख की कामना करते हुए, दण्ड से मारता नहीं है, मरकर वह सुख को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

जेतवन कुण्डधान थेर

१३३—मावोच फरुसं कंचि वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं ॥ ५ ॥

---

१. महाभारत में ऐसा श्लोक उपलब्ध है जो कि प्रायः अक्षरशः इस गाथा के साथ मिलता जुलता है—

अहिंसकानि भूतानि दण्डेन विनिहन्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रेत्य नैव सुखी भवेत् ॥

अनुशासन पर्व, ११३।५

भगवान् मनु ने भी कहा है—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ५।४५ ॥

२. पालि व्याकरण में आत्मनेपद धातुरूप प्रक्रिया दिखाई गई है, किन्तु समग्र पालि वाङ्मय में आत्मनेपद के प्रयोग बहुत कम ही मिलते हैं। यह 'लभते' पद एक विरल उदाहरण है। प्राकृत भाषा में तो आत्मनेपद का प्रयोग छोड़ ही दिया गया है। (देखिए P. D. Gune : An Introduction to Comparative Philology पृ० २१३)

[मा वोचः परुषं किञ्चित् उक्ताः प्रतिवदेयुस्त्वाम् ।
दुःखा हि संरम्भकथाः प्रतिदण्डाः स्पृशेयुस्त्वाम् ॥ ५ ॥]

किसी से कठोर वचन मत कहो। कठोरता से बोले गए मनुष्य तुम्हें वैसा ही उत्तर देंगे। कठोर वचन दुःखदाई होते हैं और प्रतिहिंसा की भावना तुम्हें स्पर्श करेगी ॥ ५ ॥

१३४—स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तेसि निब्बानं सारम्भो ते न विज्जति ॥ ६ ॥
[स चेत् नेरयसि आत्मानं कांस्यमुपहतं यथा।
एष प्राप्तोऽसि निर्वाणं संरम्भस्ते न विद्यते ॥ ६ ॥]

यदि तुम अपने आप को टूटे हुए काँसे के समान निःशब्द कर लो तो तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे और तुम्हारे लिए प्रतिहिंसा की भावना न रहेगी ॥६॥

पुब्बाराम　　　　विशाखा आदि उपासिका

१३५—यथा दण्डेन गोपालो गावो पाचेति[1] गोचरं।
एवं जरा च मच्चु च आयु पाचेन्ति पाणिनं ॥ ७ ॥
[यथा दण्डेन गोपालो गाः प्राजयति गोचरम् ।
एवं जरा च मृत्युश्चायुः प्राजयतः प्राणिनाम् ॥ ७ ॥]

जिस प्रकार ग्वाला डण्डे से गौवों को चरागाह में ले जाता है, इसी प्रकार वृद्धावस्था और मृत्यु प्राणियों की आयु को ले जाते हैं ॥ ७ ॥

वेळुवन　　　　अजगर पेत

१३६—अथ पापानि कम्मानि करं बालो न बुज्झति।
सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो[2] व तप्पति ॥ ८ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—पाजेति।

२. संस्कृत 'दग्ध' (दह–क्त) शब्द का प्राकृत रूप 'दद्ध' होना स्वाभाविक था (देखिये—प्राकृतप्रकाश ३।९, ३।५०, ५१) जिस परिवर्तन को भाषा-विज्ञान के मतानुसार समीकरण (assimilation) कहा जाता है। किन्तु पालि वाङ्मय में अनेक जगह ही 'दड्ढ' रूप उपलब्ध है, अतः इस की सिद्धि के लिए भी प्रयास करना पड़ा। पालि-व्याकरण के अनुसार इस की सिद्धि नीचे दी गई है :—

दह् + त। 'घढमहेहि घढा च' (कच्चायन ४।३।६ सूत्र द्वारा 'त'

[अथ पापानि कर्माणि कुर्वन् बालो न बुध्यते ।
स्वैः कर्मभिः दुर्मेधा अग्निदग्ध इव तप्यते ॥ ८ ॥]

पाप कर्म को करता हुआ मूर्ख मनुष्य उसे नहीं समझता । वह दुर्बुद्धि मनुष्य अपने पाप कर्मों से इस प्रकार सन्तप्त हो जाता है जिस प्रकार अग्नि से जला हुआ मनुष्य होता है ॥ ८ ॥

वेळुवन महामोग्गलान थे

१३७—यो दण्डेन अदण्डेसु अप्पदुट्ठेसु दुस्सति ।
दसन्नमञ्ञतरं ठानं खिप्पमेव निगच्छति ॥ ९ ॥
[यो दण्डेनादण्ड्येषु, अप्रदुष्टेषु, दुष्यति ।
दशानामन्यतमं स्थानं क्षिप्रमेव निगच्छति ॥ ९ ॥]

जो मनुष्य दण्ड के अयोग्य और निर्दोष लोगों को दण्ड से पीड़ित करता है वह मनुष्य दश स्थितियों में से किसी एक को शीघ्र ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

१३८—वेदनं फरुसं जानिं सरीरस्स च भेदनं ।
गरुकं वा पि आबाधं चित्तक्खेपं व पापुणे ॥ ९ ॥]
[वेदनां परुषं ज्यानिं शरीरस्य च भेदनम् ।
गुरुकं वाऽप्याबाधं चित्तक्षेपं वा प्राप्नुयात् ॥ १० ॥]

तीव्र वेदना, हानि, अंग-भंग, भारी बीमारी अथवा पागलपन को प्राप्त करता है ॥ १० ॥

१३९—राजतो वा उपसग्गं[1] अब्भक्खानं व दारुणं ।
परिक्खयं व ञातीनं भोगानं व पभङ्गुणं[2] ॥ ११ ॥

प्रत्यय को 'ढ'कार आदेश और 'डो ढकारे' (कच्चायन ४।२।६) सूत्र के अनुसार इकार को 'ड' आदेश हुए हैं ।

१. सिहलदेशीय पाठान्तर—उपस्सग्गं ।

२. 'पभङ्गुणं' (पाठान्तर पभङ्गुरं) पद का संस्कृत रूप प्रायः सभी विद्वानों के (राहुलसांकृत्यायन, चारुचन्द्रवसु आदि) द्वारा 'प्रभञ्जनम्' रखा गया है जो कि भाषाविज्ञान के अनुकूल नहीं प्रतीत होता है । इस शब्द का निकटतम संस्कृत रूप 'प्रभङ्गुरम्' हो सकता है, मगर वह विशेषण पद होने के कारण यहाँ ठीक नहीं बैठता । इसीलिए यहाँ 'प्रभञ्जन' ही रखा गया जो केवल अर्थ सादृश्य परक है, प्रकृत छाया नहीं । देखिये-गाथा १४८ का पाठान्तर । ब्रह्म

[राजतो वोपसर्गम् अभ्याख्यानं वा दारुणम् ।
परिक्षयं वा ज्ञातीनां भोगानां वा प्रभंजनम् ॥ ११ ॥]

अथवा राजा से दण्ड की प्राप्ति अथवा भयानक निन्दा, अथवा जाति बन्धुओं का विनाश, अथवा भोग्य वस्तुओं का क्षय ॥ ११ ॥

१४०—अथवस्स[1] अगारानि अग्गि डहति[2] पावको ।
कायस्स भेदा दुप्पञ्ञो निरयं सोपपज्जति ॥ १२ ॥

[अथवास्यागाराणि अग्निर्दहति पावकः ।
कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो निरयं स उपपद्यते ॥ १२ ॥]

अथवा इसके घरों को अग्नि जला देती है । वह दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य शरीर के छूटने पर नरक को प्राप्त होता है ।

जेतवन — बहुभण्डिक भिक्खु

१४१—न नग्गचरिया न जटा न पंका
नानासका थण्डिलसायिका वा ।
रजो च जल्लं[3] उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं[4] ॥ १३ ॥

और सिंहलदेशीय पुस्तकों में 'पभङ्गुरं' ऐसा पाठभेद भी हमारे अनुमान का पोषक है ।

१. अथवा + अस्स । बाद में स्वरवर्ण रहने से सभी स्वरों का लोप हो जाता है (सरा सरे लोपं--कच्चायन १।२।१) ।

२. डहति = दहति (संस्कृत) । पालि व्याकरण में 'दह' धातु का पाठ ही उपलब्ध है 'डह' धातु का नहीं । जैसे–'दह भस्मीकरणे (कच्चायनधातुमञ्जूसा ८?, मोग्गल्लान धातुपाठ १६९) 'डहति' 'डाहो' आदि पदों की सिद्धि भी कच्चायन के अनुसार नहीं होती है, केवल 'णप्' (संस्कृत घञ्) प्रत्यय की परता में 'द' को 'ळ' आदेश उनका सम्मत है, जैसे परिळाहो (दस्स दो ळं ४।५।८) । मोग्गल्लान ने 'दहस्स दस्स डो (५।१२६)' ऐसा सूत्र लिख कर 'डाहो' 'डहति' आदि पदों की वैकल्पिक सिद्धि की है ।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—रजोजल्लं ।

४. तुलना कीजिए--

[न नग्नचर्या न जटा न पङ्काः,
　　नानशनं स्थण्डिलशायिका वा ।
रजोजलीयमुत्कुटिकप्रधानं[1]
　　शोधयन्ति मर्त्यमवितीर्णकांक्षम् ।। १३ ।।]

जिस मनुष्य की आकांक्षाएँ समाप्त नहीं हो गई हैं उस मनुष्य नंगा रहना, जटा बढ़ाना, कीचड़ लपेटना, उपवास करना, कड़ी भूमि सोना, भस्म लगाना अथवा उकड़ूँ बैठना आदि शुद्धि नहीं कर सकते ।। १३

जेतवन　　　　सन्तति (महामत्त

१४२--अलंकतो चे पि समं चरेय्य
　　सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी ।
सब्बेसु भूतेसु निधाय[2] दण्डं

न नग्नचर्या न जटा न पङ्को नानशनं स्थण्डिलशयिका वा ।
न रजोमलं नोत्कुट्टकप्रहाणं विशोधयेन्मोहवितीर्णकाङ्क्षम् ।।
दिव्यावदान २३।१

अथवा--न मच्छमंसानमनाकत्तं न नग्गियं न मुण्डियं जटाजल्लं ।
खराजिनानि नाग्गिहुत्तस्सुपसेवना वा
ये वापि लोके अमरा बहु तपा ।
मन्ताहुती यञ्ञमुतूपसेवना
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ।। सुत्तनिपात, २।२।

१. उक्कुटिप्पधानं--उत्कुटिकप्रधानम् । किसी विद्वान् के मतानुसार इस का अर्थ है एक विशिष्ट यौगिक आसन । उत्कुट या उत्कुटिक शब्द का एक अर्थ होता है 'उत्तान शयन' (देखिए--वाचस्पत्यम्) । इस अर्थ को अगर मान लिया जाय तब तो दिव्यावदान में उपलब्ध 'उत्कुट्टुक प्रहाण' प्रसङ्गानुरूप समझा जायगा, जिसका अर्थ है (कृच्छ्र साधन के लिए) आराम (उत्तान शयन) नहीं करना । कई महीने लगातार आराम न करके बैठे रहना बौद्ध भिक्षुओं का एक व्रतविशेष भी था ।

२. 'सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं'--यहाँ सप्तमी विभक्ति का तथा निधाय पद का प्रयोग बड़ा विचित्र प्रतीत होता है, क्योंकि इस से 'सब प्राणियों के ऊपर दण्डपात करना' ऐसा अर्थ प्रतीत हो जाता है जो कि प्रसंग विरुद्ध है । कि

सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खु[1] ॥ १४ ॥

[अलंकृतश्चेदपि शमं चरेच्

शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी ।

सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं

स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः ॥ १४ ॥]

जो मनुष्य अलंकृत हुआ भी शान्ति पूर्वक विचरण करता है, शान्त, जितेन्द्रिय, संयम और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है, तथा सारे प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर चुका है, वह ब्राह्मण है, वह श्रमण है और वह भिक्षु है ॥१४॥

जेतवन पिलोतिक थेर

१४३--हिरीनिसेधी[2] पुरिसो कोचि लोकस्मि विज्जति ।

'सब्बेसु भूतेसु' पद को विषयाधिकरण तथा 'निधान' का अर्थ 'परिहार या परित्याग करना' ऐसा मान लिया जाय तब किसी तरह संगति हो सकती है। बौद्ध शास्त्रों में वैसा प्रयोग बहुल रूप से उपलब्ध है; जैसे–सुत्त निपात, १।३।१ में पाया जाता हैं, 'सब्बेसु भूतेषु निधाय दण्डं' आदि, जिसके अनुवाद में डॉ० वी० फज़्बोल ने लिखा, Having laid aside the rod against all beings....' (अर्थात् सब प्राणियों से अपने दण्ड को निवृत्त करके) । परित्याग-अर्थ में 'निघान' (या निक्षेप का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में प्रायः विरल होते हुए भी एक दम अप्राप्य नहीं है, जैसे महाभारत में मिलता है —'शीलं स्थितिर्दण्ड-निधानमार्जवं' (शान्ति-पर्व १७५।३७) अथवा 'निक्षितदण्डा भूतेषु' (वहीं ११०।७) ।

१. तुलना कीजिए —

अलंकृतश्चापि चरेत धर्मं दान्तेन्द्रियः शान्तः संयतो ब्रह्मचारी ।

सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं स ब्राह्मणः स श्रमणः स भिक्षुः ॥

—दिव्यावदान २३।२

२. हिरी=ह्री (संस्कृत); विप्रकर्ष (anaptyxis) का उदाहरण (देखिये प्राकृत प्रकाश, ३।६२) हिरी निसेधो यस्स सो (बहुव्रीहि समास) ऐसा विग्रह वाक्य यहाँ संगत प्रतीत होता है । यद्यपि टीकाकार के मतानुसार 'हिरीनिसेधो' इस पद का अर्थ है, "उत्पन्नं अकुसलवितत‌हिरिया निसेधीति हिरिनिसेधो" । ह्री अर्थात् सलज्जता शिष्ट पुरुषों का एक विशिष्ट सद्‌गुण मानी जाती है, जिसकी गणना दैवी सम्पदों में की गई है । देखिये–श्रीमद्भगवगीता, १६।२।

योनिन्दं अप्पबोधति[1] अस्सो भद्रो कसामिव ॥ १५ ॥
[ह्रीनिषेधः पुरुषः कश्चित् लोके विद्यते ।
यो निन्दां न प्रबोधति[2] अश्वो भद्रः कशामिव ॥

क्या इस लोक में कोई ऐसा सलज्ज मनुष्य है जो निन्दा को उसी प्रकार नहीं सहन करता जिस प्रकार अच्छा घोड़ा कोड़े को नहीं सहन करता है ?॥१५॥

१४४—अस्सो यथा भद्रो कसानिविट्ठो
आतापिनो संवेगिनो भवाथ ।
सद्धाय सीलेन च वीरियेन च
समाधिना धम्मविनिच्छयेन च ।
संपन्नविज्जाचरणा पतिस्सता
पहस्सथ दुक्खमिदं अनप्पकं ॥ १६ ॥
[अश्वो यथा भद्रः कशानिविष्टः
अतापिनः संवेगिनो भवत ।
श्रद्धया शीलेन च वीर्येण च
समाधिना धर्मविनिश्चयेन च ।
सम्पन्नविद्याचरणाः प्रतिस्मृतः
प्रहास्यथ दुःखमिदमनल्पकम् ॥ १६ ॥]

---

१. पाठान्तर—अपबोधति (सिंहलदेशीय) ।

२. 'अप्पबोधति' पद की संस्कृत-छाया में जो 'न प्रबोधति' लिखा गया है यह केवल अर्थपरक वाक्य माना है, छाया नहीं । यहाँ किसी पाश्चात्य विद्वान् का अनुमान है कि इस पद का संस्कृत मूल अल्पबोधति है । यह अनुमान विशेष चिन्तनीय है । वस्तुतः यहाँ तिङन्त पद पबोधति (प्रबोधति) के साथ नञ्समास हुआ है अर्थात् संस्कृत भाषा में अप्रयुक्त 'अप्रबोधति' पद निष्पन्न हो गया है। इस विषय में, सिंहली पाठ में उपलब्ध 'अपबोधति' रूप भी ध्यान देने योग्य है। अल्पबोधति पद की सिद्धि भी समान ही क्लिष्ट है, अतः वैसी कल्पना निराधार और निरर्थक है । अवश्य इस विषय में देना उचित है कि अप्प (अल्प) शब्द का तिङन्त उत्तर पद के साथ समास पालि में दुष्प्राप्य नहीं है । धम्मपद की १२१ संख्यक गाथा के सिंहली और स्यामदेशीय पाठ के अनुसार 'अप्पमञ्ञेथ' पद उपलब्ध है जिसका संस्कृत रूप अल्पमन्येत होना प्रायः अनिवार्य ही है ।

जिस प्रकार कोड़े पड़ा हुआ घोड़ा अच्छा हो जाता है, उसी प्रकार पाश्चा-ताप करनेवाले और संवेगवान् बनो। तुम श्रद्धा, सदाचार, शक्ति, समाधि तथा धर्म के निश्चय से युक्त बनकर विद्या और आचरण से समन्वित हुए, पूर्णतया स्मृतिवान् हुए इस महान् दुःख को पार कर सकोगे ॥ १६ ॥

जेतवन सुखसामरेण

१४५—उदकं हि नयन्ति नेत्तिका उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका अत्तानं दमयन्ति सुब्बता ॥ १७ ॥
[उदकं हि नमयन्ति नेतृका इषुकारा नमयन्ति तेजनम्।
दारुं नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति सुव्रताः ॥ १७ ॥]

नहरों के निर्माणकर्त्ता पानी को ले जाते हैं। वाण बनाने वाले बाण को झुकाते हैं। बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं। इसी प्रकार पण्डित लोग अपने स्वयं का दमन करते हैं ॥ १७ ॥

—:o:—

जरावग्गो एकादशमो

(जरावर्ग एकादशः)

जेतवन विसाखाया सहायि[illegible]

१४६—को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेसथ[1] ॥ १ ॥
[को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति ।
अन्धकारेणावनद्धाः प्रदीपं न गवेषयथ ॥ १ ॥]

जब नित्य ही आग जल रही है, तो यह हँसी क्या है और आनन्द क्या है ? अन्धकार से घिरे हुए तुम लोग दीपक क्यों नहीं खोजते ? ॥ १ ॥

वेळुवन सिरि[illegible]

१४७—पस्स चित्तकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं ।
आतुरं बहुसंकप्पं यस्स नत्थि धुवं ठिति[2] ॥ २ ॥
[पश्य चित्रीकृतं बिम्बम्, अरुष्कायं[3] समुच्छ्रितम् ।
आतुरं बहुसंकल्पं यस्य नास्ति ध्रुवं स्थितिः ॥ २ ॥]

इस चित्र लिखे से शरीर को देखो जो व्रणों से युक्त है, फूला हुआ है, पीड़ित है और अनेकों संकल्प विकल्पों से भरा है तथा किसकी स्थिति स्था[यी] नहीं है ॥ २ ॥

---

१. पाठान्तर—गवेस्सथ ।

२. ठिति = स्थिति (प्राकृतप्रकाश ८।२५) ।

३. अरु=अरुस् (सं) । संस्कृत छाया में 'अरुकायं' लिखना (प[ण्डित] राहुल सांकृत्यायन) गलत है । 'अरुस्' शब्द का अर्थ 'व्रण' या 'क्षत' हो[ता] है । अतः 'अरुष्कायं' का यह अर्थ हो सकता है, 'अरुभिः व्रणैः परिपूरितः का[यः] यस्य तम्' अर्थात् जिसका शरीर व्रणों से भरा हुआ है । यद्यपि लौकिक संस्[कृत] में 'अरुस्' शब्द का प्रयोग बहुत ही विरल हो गया है, इसका कुछ प्रयोग वैदि[क] वाङ्मय में उपलब्ध होता है; जैसे—"यद्दण्डेन यदिष्वा यदारुर्हरसा कृतम्" (अथर्ववेद संहिता, ५।५।४) अथवा, "अरुर्वै पुरुषोऽवछितोऽनरुरेवैतद्भ्[व]ति

जेतवन उत्तरी थेरी

१४८—परिजिण्णमिदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुरं[1]।
भिज्जति पूतिसंदेहो मरणन्तं हि[2] जीवितं ॥ ३ ॥

[परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभंगुरम्।
भिद्यते पूतिसन्देहो मरणान्तं हि जीवितम् ॥ ३ ॥]

यह रूप जराजीर्ण है, रोगों का घर है और क्षणभंगुर है। दुर्गन्ध का ढेर यह शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है, क्योंकि मृत्यु पर्यन्त ही जीवन होता है ॥३॥

जेतवन अभिमान भिक्खु

१४९—यानिमानि अपत्थानि[3] अलाबूनेव[4] सारदे।

(शतपथ ब्राह्मण)। पालि वाङ्मय में इस 'अरु' (सं० अरुस्) शब्द से कई एक प्रयोग मिलते हैं (देखिए थेरगाथा ७८९)।

१. स्यामदेशीय पाठान्तर—पभङ्गुणम्।

२. यहाँ का पाठ 'मरणं तम्हि' या मरणन्तं हि' इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों में बड़ा ही मतभेद दिखाई पड़ता है। अभिधानकार प्रसिद्ध विद्वान् आर० सी० चाईल्डार्स के मतानुसार यहाँ 'मरणन्तं हि' पाठ संगत है और डॉ० फज़बोल के मतानुसार 'मरणं तम्हि'। देखिए मैक्समूलर संस्करण की पाद टीका। अर्थ की दृष्टि से पहला पाठ ही समीचीन प्रतीत होता है। टीकाकार भदन्त अश्वघोष ने लिखा 'मरणन्तं मरणपरियोसानं।'

तुलना कीजिए—"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥
—महाभारत, स्त्रीपर्व २।३।

३. कहीं कहीं 'अपत्थानि' पद की छाया में 'अपथ्यानि' पद दिया गया है; किन्तु तब 'फेंक दी गयी' ऐसा अर्थ नहीं आवेगा। 'अपास्तानि' पद, इस गाथा के अनुरूप संस्कृत श्लोक जो दिव्यावदान में उपलब्ध है उसके साथ भी सङ्गत होता है। अधिकन्तु 'अपत्थानि' पद का 'आपास्तानि' यह संस्कृत रूप टीकाकार (बुद्धघोष) का भी सम्मत है, जिन्होंने लिखा—'तत्थ अपत्थानीति छड्डितानि।'

तुलना कीजिए—यानीमान्यपविद्धानि विक्षिप्तानि दिशो दश।
कपोतवर्णान्यस्थीनि तानि दृष्ट्वेह का रतिः ॥३७।२३।

४. सिंहलदेशीय पाठान्तर—अलापूनेव।

कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान[1] का रति ॥ ४ ॥
[यानीमान्यपास्तानि अलाबूनीव शरदि ।
कापोतकान्यस्थीनि तानि दृष्ट्वा का रतिः ॥ ४ ॥]

शरद् काल की लौकी के समान फेंक दी गई इन कबूतर के रंगवाली हड्डियों को देखकर उनमें प्रेम कैसा ? ॥ ४ ॥

जेतवन रूपनन्दा थेरी

१५०—अट्ठीनं[2] नगरं कतं मंसलोहितलेपनं[3] ।
यत्थ जरा च मच्चु च मानो मक्खो च ओहितो ॥ ५ ॥

---

१. दिस्वान = दिस् (सं० दृश्) + त्वान । सू०—दिसा स्वानस्वान्तलोपो च (कच्चायन ४।४।१०) ।

२. अट्ठीनं=अस्थ्नाम् (सं०) । दीर्घ ईकारान्त 'अट्ठी' शब्द प्राकृत-व्याकरण में निपातन सिद्ध माना गया है । ('अस्थनि', 'वर्गेषु युज पूर्वः'; प्राकृत प्रकाश, ३।११,५१) । इस शब्द के साथ पालि 'अट्ठि' शब्द का वास्तविक कोई भेद नहीं है, लेकिन प्राकृत व्याकरण के टीकाकारों के आशय के अनुसार 'अट्ठी' शब्द का लिङ्गविपर्यास द्वारा स्त्रीलिङ्गत्व हुआ है । किन्तु पालि व्याकरण में तथा प्रयोग में 'अट्ठि' शब्द संस्कृत के अनुसार क्लीबलिङ्ग ही रह गया है । (देखिए—कच्चायन २।४।७) ।

३. मल-मूत्र-मांस-शोणित आदि से पूर्ण इस भोगायतन शरीर की, ऐसे शब्दों से की गई निन्दा आर्षशास्त्रों में बहुलतया उपलब्ध होती है । भगवान् मनु ने कहा—

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
राजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥६।७६-७७

अथवा,

जरयाभिपरीतस्य मृत्युना च विनाशिना ।
दुर्बलं दुर्बलं पूर्वं गृहस्येव विनश्यति ॥
इन्द्रियाणि मनो वायुः शोणितं मांसमस्थि च ।
आनुपूर्व्या विनश्यन्ति स्वं धातुमुपयान्ति च ॥

—महा० शान्ति० २१८।४१

[अस्थ्नां नगरं कृतं मांसलोहितलेपनम् ।
यत्र जरा च मृत्युश्च मानो म्रक्षश्चावहितः ॥ ५ ॥]

यह हड्डियों का एक नगर बनाया गया है जो माँस और रक्त से लेपा गया है, जिसमें वृद्धावस्था, मृत्यु, अभिमान और असूया का निवास है ॥ ५ ॥

जेतवन मल्लिका देवी

१५१—जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता अथो सरीरं पि जरं उपेति ।
सतं च धम्मो न जरं उपेति सन्तो ह वे सब्भि पवेदयन्ति[1] ॥ ६ ॥
[जीर्यन्ति वै राजरथाः सुचित्रा
अथ शरीरमपि जरामुपैति ।
सताञ्च धर्मो न जरामुपैति
सन्तो ह वै सद्भ्यः प्रवेदयन्ति ॥ ६ ॥]

जिस प्रकार राजाओं के चित्रित रथ जीर्ण हो जाते हैं, उसी प्रकार शरीर भी वृद्धावस्था को प्राप्त होता है । पर, सज्जन पुरुषों का धर्म कभी वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता है । सज्जन पुरुष सज्जन पुरुषों से ऐसा बतलाते हैं ॥ ६ ॥

जेतवन लालुदायी थेर

१५२—अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिबद्दो व जीरति ।
मंसानि तस्स बढ्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति ॥ ७ ॥
[अल्पश्रुतोऽयं पुरुषो बलीवर्द इव जीर्यति ।
मांसानि तस्य वर्धन्ते प्रज्ञा तस्य न वर्धते ॥ ७ ॥]

यह अल्प ज्ञान प्राप्त किया हुआ मनुष्य बैल के समान बढ़ता है । उसका मांस बढ़ता है, पर उसकी प्रज्ञा नहीं बढ़ती है ॥ ७ ॥

जराक्रान्त शरीर की निन्दा करते हुए श्री भर्तृहरि ने भी कहा —
गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलि-
दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते
हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ॥
—वैराग्यशतक, ७३

१. तुलना कीजिए—
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

बोधिरुक्खमूल उदानवसेन वुत्तं (पुन आनन्दत्थेरस्स वुत्तम्)

१५३—अनेकजातिसंसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारं[1] गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं ॥ ८॥
[अनेकजातिसंसारं समधाविषम्[2] अनिर्विशमानः।
गृहकारं गवेषयन् दुःखा जातिः पुनः पुनः ॥ ८॥]

मैं इस शरीर रूपी घर को बनाने वाले की खोज करता हुआ, अनेक जन्मों में संसार में जाता हुआ दौड़ता रहा। बार-बार जन्म लेना दुःखदाई है ॥ ८॥

१५४—गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि[3]।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खतं।

---

१. पाठान्तर=गहकारकं ।

२. 'सन्धाविस्सं' पद का संस्कृत रूप विशेष संदेहास्पद है। पंडित मैक्स-मूलर ने इसको भविष्यत् काल का रूप समझा और तदनुसार' "I shall have to run" ऐसा अनुवाद किया है। किन्तु श्रीबुद्ध भगवान् का वचन होने के कारण वैसा अर्थ यहाँ नहीं संगत होता है, क्योंकि गौतम बुद्ध का पुनर्जन्म नहीं होनेवाला था, वही उनका अन्तिम जन्म था। श्रीबुद्ध ने कहा—"अकुप्पा में चेतोविमुक्ति, अयमन्तिमा जाति, नत्थि दानि पुनब्भवो" (महावग्ग, पृ० ११); अर्थात्—'मेरी चित्तविमुक्ति अपरिवर्तनीय हुई है, यह मेरा अन्तिम जन्म है, अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा'। टीकाकार भदन्त बुद्धघोष के व्याख्यान के अनुसार यहाँ लुङ् (अज्जतनी) विभक्ति ही प्रतीत होती है, उन्होंने लिखा है—'संसारि अपरापरं अनुविचारिन्ति अत्थो'; इसमें फज़्बोल, चाईल्डार्स, रीज डेवीड्स आदि पाश्चात्य विद्वानों की भी सम्मति है।

३. काहसि —विकल्प पद करिस्ससि (सं० करिष्यति) पालि कर धातु के भविष्यत् स्वाभाविक रूप के स्थान पर विकल्प से 'काहति, काहन्ति' आदि पद होते हैं। सू०—'करस्स सप्पच्चयस्स काहो' (कच्चायन, ३।३।२४।) अभिधानकार डॉ० रीज डेविड्स् के मतानुसार इस रूप का विशेष अर्थ है, 'निश्चय या दृढ़ता के साथ प्रतिज्ञा' अर्थात् 'अहं काहामि' का अर्थ है 'मैं अवश्य ही करूँगा' और ऐसा प्रयोग केवल पद्यों में ही होगा। किन्तु कच्चायन आदि व्याकरण में ऐसा कोई नियम स्पष्टतया उपलब्ध नहीं होता है। प्राकृत भाषा में भी 'कृ' धातु के भविष्यत् रूप में (उत्तम पुरुष में) 'काहं' आदेश होता है। देखिये—

विसंखारगतं चित्तं तण्हानं[1] खयमज्झगा[2] ॥ ९ ॥
[गृहकारक दृष्टोऽसि पुनर्गेहं न करिष्यसि ।
सर्वास्ते पार्शुका भग्ना गृहकूटं विसंस्कृतम् ।
विसंस्कारगतं चित्तं तृष्णानां क्षयमध्यगात् ॥ ९ ॥]

हे घर को बनाने वाले ! मैंने तुम्हें देख लिया है। तुम अब फिर घर न बना सकोगे। तुम्हारी सब कड़ियाँ टूट गई हैं तथा घर का शिखर गिर है। मेरा चित्त संस्कार रहित हो गया है। तृष्णाओं का विनाश हो गया है ॥ ९ ॥

इसिपतन महाधनी सेट्ठिपुत्त

१५५—अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं।
जिण्णकोञ्चा व झायन्ति[3] खीणमच्छे व पल्लले ॥ १० ॥

'कृदाश्रु वचिगमि-रुदि-दृशि-विदि-रूपाणां काहं दाहं सोच्छं वोच्छं गच्छं रोच्छं दच्छं वोच्छं', प्राकृत प्रकाश ७।१६।

१. यहाँ तण्हा को ही गहकारक (गृहनिर्माता) कहा गया है।

तृण्हा =तृष्णा (सं०)। 'ह्न-स्न-ष्ण-क्ष्ण-श्नां ण्हः'—प्राकृत-प्रकाश ३।३३।

२. स्थविरवादी बौद्ध परम्परा के अनुसार उपर्युक्त दो गाथाएँ (१५३-१५४) बोधिलाभ के बाद भगवान् बुद्ध के प्रथम वचन हैं। उदीच्च अर्थात् महायानी परम्परा में दो भिन्न गाथाएँ या श्लोक जो ललितविस्तर में उपलब्ध हैं, बुद्ध भगवान् का प्रथम उपदेश मानी जाती हैं।

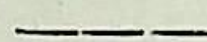
३. डॉ० बोलेन का अनुसरण करते हुए पं० मैक्समूलर कहते हैं कि 'झायन्ति' पद का संस्कृत आधार 'क्षायन्ति' होता है। किन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि मत्स्यशून्य जलाशय में अवस्थित चिन्तायुक्त जीर्ण क्रौञ्च के साथ 'ध्यान' का रूपक अच्छी तरह बैठता है और भाषाविज्ञान के अनुसार 'झायन्ति' पद 'ध्यायन्ति' से बढ़ी आसानी से बन सकता है। 'क्षायन्ति' (?) अर्थात् 'क्षीण होते हैं' इस अर्थ में प्रयुक्त होने योग्य 'झा' धातु पालि धातुपाठों में उपलब्ध भी नहीं है। वहाँ एक ही 'झा' धातु है ('झा' चिन्तायं--मोग्गल्लान धातुपाठ ३२०; 'झा' विचिन्तने—धातुमञ्जूषा, १०५) जिसका सर्वसम्मत अर्थ 'चिन्ता करना' 'ध्यान करना' है। स्पष्टतया उसका आधार संस्कृत 'ध्यै' (ध्यै' चिन्तायाम् पा० धा० ९०८) धातु ही हो सकता है, 'क्षै' धातु नहीं।

[अचरित्वा ब्रह्मचर्यम् अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
जीर्णक्रौञ्चा इव ध्यायन्ति क्षीणमत्स्य इव पल्वले ॥ १० ॥]

जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया है और युवावस्था में ध
की प्राप्ति नहीं की है, वे लोग मछलियों रहित जलाशय में वृद्ध क्रौञ्च पक्षी
के समान चिन्तायुक्त होते हैं ॥ १० ॥

१५६—अचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा योब्बने धनं ।
सेन्ति चापातिखीणा व पुराणानि अनुत्थुनं[1] ॥ ११ ॥
[अचरित्वा ब्रह्मचर्यम् अलब्ध्वा यौवने धनम् ।
शेरते चापोऽतिक्षीणा इव पुराणान्यनुष्टुन्वन् ॥ ११ ॥]

जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया है और युवावस्था
धन की प्राप्ति नहीं की है, वे लोग टूटे हुए धनुषों के समान अतीत
बातों को कहते हुए पड़े रहते हैं ॥ ११ ॥



१. यहाँ यह अवश्य 'अनुष्टुन्वन्त' ऐसा बहुवचनान्त पद ही वाक्य
संगत है जो कि टीकाकार का भी सम्मत है ('अनुत्थुनन्ता अनुसोचेन्ता'—
अट्ठकथा)। इसका अक्षरार्थ है—"(अतीत की बातों को) प्रशंसा कर
हुए····" ।

अत्तवग्गो द्वादसमो

(आत्मवर्गो द्वादशः)

भेसकलावन — बोधिराजकुमार

१५७—अत्तानं चे पियं जञ्ञा रक्खेय्य नं सुरक्खितं ।
तिण्णमञ्ञतरं यामं[1] पटिजग्गेय्य पण्डितो ॥ १ ॥
[आत्मानं चेत् प्रियं जानीयाद् रक्षेदेनं सुरक्षितम् ।
त्रयाणामन्यतमं यामं प्रतिजागृयात् पण्डितः ॥ १ ॥]

यदि मनुष्य आत्मा को प्रिय समझता है, तो इसकी अच्छी तरह से रक्षा करे । पण्डित मनुष्य रात्रि के तीनों यामों में से एक में अवश्य जाग्रत रहे ॥१॥

जेतवन — उपसन्द सक्कपुत्त थेर

१५८—अत्तानमेव पठमं पतिरूपे[2] निवेसये ।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्सेय्य पण्डितो[3] ॥ २ ॥
[आत्मानमेव प्रथमं प्रतिरूपे निवेशयेत् ।
अथान्यमनुशिष्यात् न क्लिश्येत् पण्डितः ॥ २ ॥]

बुद्धिमान् मनुष्य पहले अपने स्वयं को ही उचित कार्य में लगा दे । इस के पश्चात् दूसरे को उपदेश दे । इस तरह वह क्लेश को प्राप्त नहीं होगा ॥ २ ॥

जेतवन — पधानिक तिस्स थेर

१५९—अत्तानं चे तथा कयिरा[4] यथञ्ञमनुसासति ।
सुदन्तो वत दमेथ अत्ता हि किर दुद्दमो ॥ ३ ॥

---

१. टीकाकार बुद्धघोष की व्याख्या के अनुसार यहाँ तीन याम का अर्थ है—प्रथम (अर्थात् यौवन), मध्यम (अर्थात् प्रौढ़त्व) और पश्चिम (अर्थात् बुढ़ापा) ये तीन स्थितियाँ ।

२. पाठान्तर—पटिरूपे ।

३. भगवान् श्री कृष्णचैतन्य ने भी कहा है—
"आपनि आचरि धर्म परेरे शिखाओ ।"

४. 'करिया'—ब्रह्मदेशीय पाठान्तर ।

[आत्मानं चेत् तथा कुर्यात् यथाऽन्यमनुशास्ति ।
सुदान्तो बत दमयेद् आत्मा हि किल दुर्दमः ॥ ३ ॥]

यदि मनुष्य अपने स्वयं को वैसा बना ले जैसा कि दूसरे को उपदेश है, तो स्वयं जितेन्द्रिय बना हुआ वह दूसरे का दमन करे, क्योंकि वास्त स्वयं का दमन करना ही कठिन है ॥ ३ ॥

जेतवन कुमारकस्सपमातु

१६०—अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं[1] ॥ ४ ॥
[आत्मा हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परः स्यात् ।
आत्मना हि सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम् ॥ ४ ॥]

आप ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है ? अपने को भली प्रकार से दमन कर लेने पर मनुष्य दुर्लभ स्वामी को प्राप्त कर लेता

जेतवन महाकाल उपा

१६१—अत्तना व[2] कतं पापं अत्तजं अत्तसंभवं ।
अभिमन्थति[3] दुम्मेधं वजिरं वस्ममयं मणि ॥ ५ ॥

'कथिरा' पद, 'कर' धातु के स्थान पर 'कयिर' आदेश (देखि कच्चायन, ३।२।२०) और विभक्ति के स्थान पर 'आ' आदेश होने से (मो ल्लान ६।३०) सिद्ध होता है। वस्तुतः 'कुर्यात्' पद से 'करिया' (जैसा देशीय पाठ में कई एक जगह मिलता है—) होना ही अधिक स्वाभाविक परन्तु यहाँ वर्णविपर्यय (Metathesis) और अपिनिहित (epenthe के फलस्वरूप 'कयिरा' पद बन गया है।

१. तुलना कीजिए—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ६।५

२, पाठान्तर—हि (ब्रह्मदेशीय) ।

३. पाठान्तर—अभिमत्थति (ब्रह्मदेशीय) ।

४. वजिर (वज्र) । पालि व्याकरण के अनुसार गमनार्थक 'व्रज

[आत्मनैव कृतं पापं आत्मजमात्मसंभवम् ।
अभिमथ्नाति दुर्मेधसं वज्रमिवाश्ममयं मणिम् ॥ ५ ॥]

अपने स्वयं से किया गया, अपने स्वयं से उत्पन्न हुआ एवं अपने स्वयं से पोषित किया गया पाप दुर्बुद्धि मनुष्य को उसी प्रकार मथित करता है, जिस प्रकार (पत्थर से ही उत्पन्न) वज्र पत्थर की मणि को काट देता है ॥५॥

वेळुवन देवदत्त

१६२—यस्स अच्चन्तदुस्सील्यं मालुवा[1] सालमिवोततं ।
करोति सो तथत्तानं यथा नं इच्छती दिसो ॥ ६ ॥
[यस्यात्यन्तदौःशील्यं मालुवा शालमिवाततम् ।

से 'इर' प्रत्यय द्वारा वजिर शब्द निपातन से निष्पन्न हुआ है (देखिए—कच्चायन, ४।६।३८)। वस्तुतः यहाँ, संस्कृत 'वज्र' शब्द के बीच में विप्रकर्ष की विधि के अनुसार 'इ' का आगम हो गया है। 'वज्र' शब्द का अर्थ 'हीरकमणि' होता है। देखिए—"वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ" (अमरकोष ३।१८४)। हीरा अत्यन्त कठिन होता है अतः दूसरे मणियों में छिद्र करने में इसका उपयोग होता है।

तु० – "मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्तु मे गतिः" (रघुवंश, १।४)।

मणियों में छिद्र करने में उपयोग होने वाला लोहे का (शलाका) यन्त्र भी 'वज्र' कहलाता है। इसलिए धम्मपद के चीनी संस्करण से अंग्रेजी अनुवाद करते हुए सैमुयेल बील ने वजिर के अनुवाद में 'steel drill' ही लिखा है (पृ० ६० नया संस्करण)।

१. मालुवा = लता विशेष। मालुवा शब्द का संस्कृत मूल दुष्प्राप्य है, किन्तु पालि वाङ्मय में इसका काफी प्रयोग दिखाई पड़ता है। तुलना कीजिए—'तण्हा वड्ढति मालुवा विय (धम्मपद, ३३४)' अथवा—'अथ खो तं भिक्खवे मालुवाबीजं मोरो गिलेय्य (मज्झिमनिकाय, १ला खण्ड, पृ० ३०६)'। पालि प्रयोग के अनुकरण से बौद्ध संस्कृत में भी (इस लता के अर्थ में) 'मालु' शब्द का प्रयोग होता है। अवश्य उज्ज्वलदत्त कृत उणादिवृत्ति (१।५) तथा मेदिनीकोश में लता (पत्रलता के) अर्थ में 'मालु' शब्द का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

करोति स तथात्मानं यथैनमिच्छति द्विट्[1] ॥ ६ ॥]

जिसका अत्यन्त दुराचार उसे इस प्रकार घेरे हुए हैं जिस प्रकार मालु नाम की लता शाल वृक्ष को घेरे रहती है। वह अपने को वैसा ही करते है जैसे कि उसका शत्रु उसे चाहता है ॥ ६ ॥

वेलुवन संघभेदपरिसक्कन (का समय

१६३—सुकरानि[2] असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परमदुक्करं ॥ ७ ॥
[सुकराण्यसाधून्यात्मनोऽहितानि च।
यद्वै हितं च साधु च तद्वै परमदुष्करम् ॥ ७ ॥]

ऐसा कार्य करना सरल है जो बुरे हैं और अपने लिए अहित करने वाले जो कार्य हितकारी और अच्छा है, उसका करना बड़ा ही कठिन होता है ॥

जेतवन काल

१६४—यो सासनं अरहतं[3]

---

१. मूलस्थ 'दिसो' शब्द की छाया में और सम्पादकों (जैसे रा सांकृत्यायन, चारुचन्द्र वसु आदि) ने 'द्विषः' ऐसा बहुवचनान्त पद दि जिसके अनुसार 'इच्छति' की छाया में इच्छन्ति ऐसा लिखना पड़ा और अनु भी तदनुसार किया गया-जो कि बड़ा ही भ्रमात्मक है। संस्कृत हलन्त 'ि शब्द का पालि रूप 'दिस' ऐसा स्वरान्त हो जाता है और इससे ही प्र एकवचन में 'दिसो' पद सिद्ध होता है (बहुवचन में दिसा)। प्रयोग में वैसा पाया जाता है; देखिए—"दिसो दिसं यन्तं कयिरा (धम्मपद, ४२)"।

२. इस गाथा की व्याख्या करते हुए भदन्त बुद्धघोष ने निम्नलिखित का उदान की संज्ञा से उद्धरण दिया है, जिसे धम्मपदट्ठकथा के ब्रह्मदे संस्करण में धम्मपद की ही मूलगाथा मान लिया गया है;

'सुकरं साधुना साधुं साधुं पापेन दुक्करं।
पापं पापेन सुकरं पापमरियेहि दुक्करं ॥'

३. बौद्ध साहित्य में 'अरहन्त' (अर्हत्) शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण अरहन्त शब्द पूजार्थं 'अरह' धातु से निष्पन्न हुआ है, व्युत्पत्ति की दृष्टि से पालि शब्द मूल संस्कृत 'अर्हत्' शब्द से कोई अन्तर नहीं रखता है। अर्हत 'अर्ह पूजायाम्' (पा० धा० ७४०), इस 'अर्ह' धातु से परे, 'अर्हः पूजा

(पा० ३।२।१२३)' सूत्र के अनुसार 'शतृ' प्रत्यय द्वारा सिद्ध होता है। अतः इसका मुख्य अर्थ पूज्य या श्रद्धेय है। इसी अर्थ के लिए 'अर्हत्' शब्द का बहुल प्रयोग वैदिक वाङ्मय में पाया जाता है; जैसे—

(१) इमं स्तोममर्हते जातवेदसे (ऋ. स. १।१४।१)। 'अर्हते पूज्याय' सायणाचार्यं।

(२) अर्हन्तश्चिद् यमिन्धते संजनयन्ति (ऋ. स. ५।७।२)। 'अर्हन्तः पूज्याः'—सायणाचार्यं।

ऐसे 'पूज्य' अर्थं के लिए 'अर्हत्' शब्द का प्रयोग आर्ष परम्परानुसारी शास्त्रों में तथा लौकिक संस्कृत-साहित्य में पाया जाया है; जैसे, 'अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्। (मनुसंहिता, ३।१२८), अथवा 'त्वमर्हतां प्राग्रसरः स्मृतोऽसि यत्······(अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ५म अङ्क)' आदि।

किन्तु पहले से ही बौद्ध साम्प्रदायिक साहित्य में एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा। वहाँ बौद्ध साधनमार्ग की चरम अवस्था को प्राप्त किए हुए बौद्ध श्रमण को 'अरहन्त' कहा जाता है। बौद्ध-साधकों की चार श्रेणियाँ होती हैं—सोतापन्न, सकदागामी, अनागामी एवं अरहन्त। सोतापन्न आदि तीन अवस्थाओं के व्याख्यान के लिए १७८ संख्यक गाथा की टिप्पणी देखिए। यहाँ 'अरहन्त' अवस्था का ही विस्तृत वर्णन दिया जाता है। अरहन्त का विभिन्न लक्षणों के वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ के 'अरहन्त वग्ग' में भी पाया जाता है, तदतिरिक्त भी विभिन्न पिटक ग्रन्थों में उपलब्ध है। ऐसे साधक अरहन्त कहलाते हैं जो निर्वाण को प्राप्त कर चुके हैं। उनके पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती है और उनके सभी 'आस्रव' सम्पूर्णतः विध्वस्त हो जाते हैं। इस अवस्था का वर्णन करते हुए शास्त्र में कहा गया है—

"खीणा जाति वुसितं ब्रह्मचरियं कतं करणीय नापरं इत्थत्तायाति"

—मज्झिमनिकाय, १ला भाग, पृ० १८४

अथवा,

"इमेसं हि वासेट्ठ चतुन्नं वण्णानं यो होति भिक्खु अरहं खीणासवो वुसितवा कतकरणीयो ओहितभारो अनुप्पत्तसदत्थो परिखीणभवसंयोजनो सम्मदञ्ञा-विमुत्तो····"

—दीघनिकाय, ३रा भाग, पृ० ६५।

अरियानं[1] धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तघञ्ञाय[2] फल्लति[3] ॥ ८॥

जैन शास्त्रों में भी 'अर्हत्' (एवं प्राकृत 'अरहन्त' व 'अरिहन्त') शब्द का ऐसा ही पारिभाषिक अर्थ पाया जाता है। वहाँ भी अर्हत् शब्द का मुख्य अर्थ "पूज्य" है किन्तु गौण अर्थ है 'जिन', या जैनधर्म के प्रवर्तक तीर्थङ्कर" क्रमशः गौण अर्थ ने ही मुख्य अर्थ का स्थान ले लिया। "अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्यर्हन्" (द्र० पाक्षिकसूत्र, कल्पसूत्र, स्थानाङ्गसूत्रादि) अर्हत् शब्द के 'जिन' अर्थ के लिए देखिए, आचाराङ्गसूत्र ३।४, अभिधानचिन्तामणि (हेमचन्द्र कृत) १।२४। जैन शास्त्रानुसार अर्हत् (अरहन्त) का लक्षण—"अरहन्ता असेसकम्मक्खएण निद्दड्ढमवङ्कुरत्ताओ न पुणो हि भवन्ति जम्मंति, उववज्जंति वा", (देखिए—महानिशीथ सूत्र, ३)।

प्राकृत में अर्हत् के लिए 'अरिहन्त' शब्द भी माना गया है और उसकी कुछ काल्पनिक व्युत्पत्ति भी जैनशास्त्र में उपलब्ध है। जैसे—

"इंदियविसयकसाए परीसहवेयणाए उवसग्गे।
एए अरिणो हंता अरिहन्ता तेन वुच्चन्ति ॥ आदि।

१. पालि वाङ्मय में पहले 'अरिय' शब्द शिष्ट या सद्वंश में उत्पन्न हुए पुरुष के लिए प्रयुक्त होता था। जैसे, "यतो अहं भगिनि, अरियाय जातिया जातो नाभिजानामि संचिच्च पाणं जीविता वोरोपेता;—" मज्झिमनिकाय २रा भाग, पृ० १०३। किन्तु क्रमशः टीकाकारों के व्याख्यान में 'अरिय' और अरहन्त शब्द प्रायः समानार्थक हो गये हैं।

२. 'अत्तघञ्ञाय' पद की छाया में 'आत्महत्यायै' लिखना केवल अर्थपरक है। प्रकृत छाया 'आत्मघान्यायै' होना चाहिए, किन्तु 'घान्या' शब्द का प्रयोग संस्कृत वाङ्मय में प्रायः उपलब्ध नहीं होता और पालि में भी 'घञ्ञा' शब्द प्रायः दुष्प्राप्य है। यहाँ ब्रह्मदेशीय पाठ में 'आत्मघाताय' पाठ मिलता है, जो अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर 'फलति' अधिक समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु उसमें छन्दोभङ्ग दोष आ जाता है। इस जगह 'फुल्लति' पाठ की कल्पना (राहुल सांकृत्यायन) अथवा छाया में 'फुल्लति' लिखकर अनुवाद में 'फूलता है

[यः शासनमर्हताम् आर्याणां धर्मजीविनाम्।
प्रतिक्रोशति दुर्मेधा, दृष्टिं[1] निश्रित्य पापिकाम्।
फलानि काष्ठकस्येव, आत्महत्यायै फलति ॥ ८ ॥]

जो दुर्बुद्धि मनुष्य पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर धर्मनिष्ठ और आर्य पुरुष अर्हतों के शासन की निन्दा करता है, वह बाँस के फलों के समान अपनी हत्या के लिए प्रफुल्लित होता है ।। ८ ।।

जेतवन चूलकाल उपासक

१६५—अत्तना हि[2] कतं पापं अत्तना संकिलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं अत्तना व विसुज्झति।
सुद्धि असुद्धि पच्चत्तं नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये ॥ ९ ॥
[आत्मना हि कृतं पापमात्मना संक्लिश्यति।
आत्मनाऽकृतं पापमात्मनैव विशुध्यति।
शुद्धिरशुद्धिः प्रत्यात्मं नान्योऽन्यं विशोधयेत् ॥ ९ ॥]

मनुष्य अपने स्वयं से किये गये पाप से, अपने को मलिन करता है। अपने स्वयं से न किये गये पाप से स्वयं शुद्ध रहता है। शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक मनुष्य पर निर्भर हैं। कोई मनुष्य किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता ।।९।।

जेतवन अत्तदत्थ थेर

१६६—अत्तदत्थं[3] परत्थेन बहुनापि न हापये।

आदि लिखना तो एकदम भ्रमात्मक और निराधार है। यहाँ फलति (सिंहलीय पाठ में फल्लति) पाठ ही टीकाकार बुद्धघोष का अभिप्रेत है, क्योंकि उन्होंने टीका में फलति (फल्लति) पद की व्याख्या करते हुए निम्नलिखित उद्धरण दिया—

"फलं वे कदलिं हन्ति फलं वेलुं फलं नलं।
सक्कारो कापुरिसं हन्ति गब्भो अस्सतरिं यथा ॥'

१. पापिका दिट्ठि = मिच्छा दिट्ठि (मिथ्या दृष्टि)। मिथ्यादृष्टि का एक लक्षण है—

अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सता गच्छति दुग्गतिं ॥—धम्मपद, निरयवग्ग १३।

२. व—सिंहलदेशीय पाठान्तर।

३. अत्तदत्थ शब्द में 'द'कार का आगम अनियमित है केवल 'यवमद-

अत्तदत्थमभिञ्ञाय सदत्थपसुतो सिया ॥ १० ॥
[आत्मनोऽर्थं परार्थेन बहुनापि न हापयेत् ।
आत्मनोऽर्थमभिज्ञाय सदर्थप्रसितः स्यात्[1] ॥ १० ॥]

मनुष्य पराये बड़े धर्म के लिए भी स्वधर्म का परित्याग न करे। वह अपने धर्म को अच्छी प्रकार से जानकर उस शुभ कार्य में लगा रहे ॥ १० ॥

———

नतरळा चागमा (कच्चायन १।४।६)' सूत्र के द्वारा सिद्ध हो सकता है।

१. यहाँ 'परहित के लिए अपना स्वार्थ नहीं छोड़ना चाहिए' ऐसा स्वार्थमूलक उपदेश नहीं दिया जाता। वस्तुतः यहाँ कर्मस्थान भावना के विषय में उपर्युक्त नीति बतलायी गई है। यहाँ स्वार्थ का अर्थ ध्यानादि कुशल कर्म समझना चाहिए। दूसरे किसी के उपदेश तथा कथन से अपने ध्यानादि कर्म को नहीं छोड़ें। तुलनीय—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

—श्रीमद्भागवद्गीता ३।३५

पर, इस गाथा की व्याख्या में भदन्त बुद्धघोष ने जिस कहानी का उद्धरण दिया है उससे ज्ञात होता है कि, उनके समय में बुद्ध भगवान् की गन्ध पुष्प आदि के साथ पूजा शुरू हो गयी थी, जिसका विरोध टीकाकार ने अपनी व्याख्या में किया है। वस्तुतः किसी के कथन से अपनी साधना को न छोड़ने के इस मूल बुद्धोपदेश की टीका में इस कहानी को जोड़ कर टीकाकार इस तत्त्व को प्रतिपादन करना चाहते हैं कि लगातार ध्यान ही साधकों के लिए पूजनादि से ज्यादा फलप्रद होता है, पं० मैक्समूलर का आशय यह है। इस टीका से पता चलता है कि टीकाकार ने धम्मपद के संगतिपूर्ण व्याख्यान के लिए कहानियों का उद्भावन किया, इन कहानियों के साथ बुद्धकालीन वस्तुस्थिति का कोई सम्बन्ध नहीं है।

लोकवग्गो तेरसमो

[लोकवर्गस्त्रयोदशः]

जेतवन अञ्ञतर दहरभिक्खु

१६७—हीनं धम्मं[1] न सेवेय्य पमादेन न संवसे।
मिच्छादिट्ठिं[2] न सेवेय्य न सिया लोकवड्ढनो[3] ॥ १ ॥
[हीनं धर्मं न सेवेत प्रमादेन न संवसेत्।
मिथ्यादृष्टिं न सेवेत न स्याल्लोकवर्धनः ॥ १ ॥]

हीन धर्म का सेवन नहीं करे। प्रमादयुक्त न रहे। झूठी दृष्टि न रखे तथा लोक में आने की वृद्धि न करे ॥ १ ॥

निग्रोधाराम पिता (अर्थात् शुद्धोदन)

१६८—उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च[4] ॥ २ ॥

---

१. टीकाकार भदन्त बुद्धघोष के मतानुसार यहाँ 'हीन धम्म' का अर्थ है पञ्च कामगुण (अर्थात् पाँच इन्द्रियों के विषय)। "पञ्च कामगुणा—चक्खु-विञ्ञेय्या रूपा···सोतविञ्ञेय्यासद्दा··· घानविञ्ञेय्या गन्धा···जिह्वाविञ्ञेय्या रसा···कायविञ्ञेय्या फोट्ठब्बा····।"—दीघनिकाय ३रा भाग, पृ० १८२।

२. मिच्छादिट्ठि (मिथ्यादृष्टि)—सम्मादिट्ठि की विपरीत मिच्छादिट्ठि होती है (दीघनिकाय, १ला भाग, पृ० १२, ७२, ७३)। अविद्याहेतुक भ्रमात्मक सिद्धान्त ही मिच्छादिट्ठि है; देखिए मज्झिमनिकाय, ३रा भाग, पृ० १३५। मिच्छादिट्ठि के कुछ विशिष्ट लक्षण के लिये देखिए धम्मपद, गाथा ३१६–३१९ (निरयवग्ग)। उपर्युक्त सामान्यरूप से कहे गये लक्षणों के अलावा विशेषरूप से 'अक्रियावाद' (संयुक्तनिकाय २ रा भाग, पृ० ४२०) अहेतुकवाद (संयुक्तनिकाय २रा भाग, पृ० ४२२), उच्छेदवाद (दीघनिकाय, १ला भाग, पृ०, ३०) आदि दार्शनिक सिद्धान्त भी मिच्छादिट्ठि कहलाते हैं।

३. सिंहलदेशीय पाठान्तर—लोकवड्ढनो।

४. तुलना कीजिए—
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। —कठोपनिषद् ३।१४।

[उत्तिष्ठेन्न[१] प्रमाद्येत धर्मं सुचरितं चरेत्।
धर्मचारी सुखं शेते अस्मिन् लोके परस्मिश्च ॥ २ ॥]

उत्थानशील बने, प्रमादी न बने, सदाचार युक्त धर्म का आचरण करे। धर्म का आचरण करनेवाला इस लोक में तथा दूसरे लोक में सुखपूर्वक रहता है ॥ २ ॥

१६९—धम्मं चरे सुचरितं न नं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मि लोके परम्हि च ॥ ३ ॥

---

१. प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'उत्तिट्ठे' पद को 'उत्तिष्ठेत्' यह संस्कृत तिङन्त क्रियापद का पालिरूप समझकर धम्मपद के सभी नवीन टीकाकारों ने 'Surgat' (फ़ज़बोल), 'उत्साही बने' (राहुलजी), 'उत्थानशील बनें', 'Rouse Thyself' (मैक्समूलर तथा डा० राधाकृष्णन्) आदि शब्दों से उसका अनुवाद किया गया है। किन्तु वैसी व्याख्या प्राचीन टीकाकार की सम्मत नहीं है। टीकाकार भदन्त बुद्धघोष के मतानुसार प्रस्तुत स्थल में प्रयुक्त 'उत्तिट्ठे' पद क्रियापद नहीं, परन्तु नाम पद है, जिसका पारिभाषिक अर्थ है, 'गृहस्थों के घर घर उपस्थित होकर साधुओं के द्वारा भिक्षा-ग्रहण' अर्थात् 'मधुकरी भिक्षा'। प्रस्तुत गाथा की व्याख्या करते हुए भदन्त बुद्धघोष ने कहा, "..उत्तिट्ठेति उत्तिट्ठ परेसं घरद्वारे ठत्वा गहेतब्बपिण्डे....।" उत्तिट्ठ शब्द का उपर्युक्त अर्थ में काफी प्रयोग बौद्ध शास्त्र में पाया जाता है। जैसे—

"उत्तिट्ठपिण्डो आहारो पूतिमत्तं च ओसधं।" —थेरीगाथा, १०६०

"उत्तिट्ठपिण्डो उच्छो च पंसुकूलञ्च चीवरं।
एतं खो मम सारूप्पं अनगारूपनिस्सयो॥" —थेरीगाथा ३५१

थेरीगाथा की टीका (परमत्थदीपनी) में भदन्त धम्मपाल ने लिखा है "विवटद्वारे घरे घरे पतिट्ठित्वा लभनकपिण्डो........."। अत: प्राचीन व्याख्यान तथा प्रयोगादि के अनुसार प्रस्तुत गाथांश का आशय यह है कि 'मधुकरी भिक्षा को छोड़कर एकत्र उत्तम भोजन (पणीतभोजनानि) को स्वीकार करना भिक्षुओं के लिए उचित नहीं है।' बड़े आश्चर्य की बात यह है कि श्रद्धेय भिक्षु धर्मरक्षित अपने संस्करण में प्रत्येक गाथा के साथ धम्मपदट्ठकथा से कहानियों के सारांश का उद्धरण देते हुए भी यहाँ 'उत्तिट्ठे' पद के अनुवाद में केवल 'उठे' लिख कर छोड़ गये हैं।

[धर्मं चरेत् सुचरितं नैतद् दुश्चरितं चरेत्।
धर्मचारी सुखं शेते अस्मिन् लोके परस्मिंश्च ॥ ३ ॥]

सदाचारयुक्त धर्म का आचरण करे, बुरा आचरण न करे। धर्म का आचरण करनेवाला इस लोक में तथा दूसरे लोक में सुखपूर्वक रहता है ॥ ३ ॥

जेतवन पञ्चसत विपस्सक भिक्खु

१७०—यथा बुब्बुलकं[1] पस्से यथा पस्से मरीचिकं।
एवं लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा[2] न पस्सति[3] ॥ ४ ॥
[यथा बुद्बुदकं पश्येद् यथा पश्येन् मरीचिकाम्।
एवं लोकमवेक्षमाणं मृत्युराजो न पश्यति ॥ ४ ॥]

जिस प्रकार मनुष्य पानी के बुलबुले को देखता है तथा जिस प्रकार मृगजल को देखता है, उसी प्रकार संसार को देखनेवाले को यमराज नहीं देखता है ॥४॥

---

१. पाठान्तर—पुब्बुलक (ब्रह्मदेशीय)।

२. मच्चु = मृत्यु (संस्कृत)। संस्कृत व्युत्पत्ति—मृ (मृङ् प्राणत्यागे–पा-धा. १४०३) + त्युक् (उणादि सूत्र ३।२१)। संस्कृत 'मृत्यु' शब्द का ऋकार का अकार (सू. ऋतोऽत्—प्राकृत प्रकाश १।२७) और त्यु का 'च्चु' (प्राकृत प्रकाश ३।२७ व ३।५०) आदेश होने से 'मच्चु' पद सिद्ध होता है। किन्तु पालि के धुरन्धर वैयाकरणों ने ऐसी स्वाभाविक तथा भाषा-विज्ञान सम्मत व्युत्पत्ति को छोड़कर 'मुस' धातु से ('मुस' सम्मोसे—धातुमञ्जूसा, ७१ अथवा 'मुस' थेय्ये—धातुमञ्जूसा, १५) 'मच्चु' शब्द की सिद्धि के लिए 'सत्तानं पाणं मुसति चजेतो ति मच्चु (कच्चायन व्याकरण, सूत्र ४।६।१५ की वृत्ति)' ऐसी कष्ट कल्पना का आश्रय क्यों लिया—यह समझ में नहीं आता है।

मच्चुराजा (मृत्युराज) शब्द के अर्थ 'यम', 'मृत्यु' तथा 'मार' ये तीन ही हो सकते हैं ('मच्चु पि मच्चुराजा, मारो पि मच्चुराजा, मरणं पि मच्चुराजा' चुल्लनिद्देस, पृ० १९७) ॥

३. तुलना कीजिए—

सुञ्ञतो लोक अवेक्खस्सु मोघराज सदा सतो।
अत्तानुदिट्ठिं ऊहच्च, एवं मच्चुतरो सिया।
एव लोकं अवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति ॥
—सुत्तनिपात ५।१६।४ ॥

बेळुवन अभयराजकुमार

१७१—एथ पस्सथिमं लोकं चित्तं राजरथूपमं।
यत्थ बाला विसीदन्ति नत्थि सङ्गो विजानतं ॥ ५ ॥
[एत पश्यतेमं लोकं चित्रं राजरथोपमम्।
यत्र बाला विषीदन्ति नास्ति संगो विजानताम् ॥ ५ ॥]

आओ, विचित्र तथा राजरथ के समान इस संसार को देखो, जहाँ मूर्ख लोग दुःखी होते हैं और ज्ञानी लोगों की आसक्ति नहीं होती ॥ ५ ॥

जेतवन समुञ्जनि थेर[1]

१७२—यो च[2] पुब्बे पमज्जित्वा पच्छा सो न प्पमज्जति।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ॥ ६ ॥
[यश्च पूर्वं प्रमाद्य पश्चात् स न प्रमाद्यति।
स इमं लोकं प्रभासयति अभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमाः ॥ ६ ॥]

जो पहले प्रमाद करके भी, पश्चात् प्रमाद नहीं करता है, वह इस लोक को इस तरह प्रकाशित करता है जैसे कि बादलों से मुक्त हुआ चन्द्रमा प्रकाशित करता है ॥ ६ ॥

जेतवन अङ्गुलिमाल थेर

१७३—यस्स पापं कतं कम्मं कुसलेन पिथीयति[3]।
स इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा ॥ ७ ॥
[यस्य पापं कृतं कर्म कुशलेन पिधीयते।
स इमं लोकं प्रभासयति, अभ्रान्मुक्त इव चन्द्रमाः ॥ ७ ॥]

जिसका किया हुआ पाप कर्म, कुशल से ढक जाता है, वह इस लोक को इस तरह प्रकाशित करता है जिस प्रकार बादलों से मुक्त हुआ चन्द्रमा प्रकाशित करता है ॥ ७ ॥

अग्गालव चेतिय पेसकारधीता

१७४—अन्धभूतो[4] अयं लोको तनुकेत्थ विपस्सति।

---

१. धम्मपदट्ठकथा के ब्रह्मदेशीय संस्करण के अनुसार पात्र का नाम 'सम्मज्जनि थेर' है।

२. ब्रह्मदेशीय पाठ में यहाँ 'च' नहीं है।

३. पाठान्तर—पहीय्यति, पिधीयति

४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—अन्धीभूतो।

सकुणो जालमुत्तो व अप्पो सग्गाय गच्छति[1] ॥ ८ ॥
[अन्धीभूतोऽयं लोकः तनुकोऽत्र विपश्यति ।
शकुनो जालमुक्त इव अल्पः स्वर्गाय गच्छति ॥ ८ ॥]

यह लोक अन्धा हो गया है। यहाँ कुछ ही लोग देखते हैं। जाल से मुक्त हुए पक्षी के समान कुछ ही लोग स्वर्ग को जाते हैं ॥ ८ ॥

जेतवन तिंस भिक्खू

१७५--हंसादिच्चपथे[2] यन्ति आकासे यन्ति इद्धिया ।
नीयन्ति धीरा लोकम्हा जेत्वा मारं सवाहिनिं[3] ॥ ९ ॥
[हंसा आदित्यपथे यन्ति आकासे यन्ति ऋद्धिकाः ।
नीयन्ते धीरा लोकात् जित्वा मारं सवाहिनीकम् ॥ ९ ॥]

हंस सूर्य के मार्ग पर जाते हैं। समृद्धिशाली लोग आकाश में जाते हैं। सेना सहित मार को जीत कर धैर्यशाली लोग इस लोक से ले जाए जाते हैं ॥९॥

जेतवन चिञ्चा मानविका

१७६—एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो ।
वितिण्णपरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं ॥ १० ॥

---

१. तु०—
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ७।३ ।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—हंसा आदिच्चपथे ।

३. स्यामदेशीय पाठान्तर—सबाहनं ।

४. टीकाकार बुद्धघोष के मतानुसार यहाँ 'एकं धम्मं' का अर्थ है सत्य (एकं धम्मन्ति सच्चं)। पाश्चात्य पण्डितों के मतानुसार उसका अर्थ है कोई एक धर्मविधि (Unum praeceptum—फजबोल; one law मैक्समूलर) एवं डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार उसका अर्थ है बुद्ध प्रवर्तित धर्म। किन्तु ये दोनों ही अर्थ प्रसङ्ग के अनुसार सङ्गत नहीं प्रतीत होते हैं। बुद्धघोष का उपर्युक्त व्याख्यान हमें इसलिए संगत प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में सत्य ही श्रेष्ठ धर्म माना जाता था, सत्य की ही प्रशंसा में 'एक धर्म' ऐसा कथन सर्वथा संगत है और इसमें आर्ष सिद्धान्त भी पूर्णतया सहमत है। देखिए—

[एकं धर्ममतीतस्य मृषावादिनो जन्तोः।
वितृष्णपरलोकस्य नास्ति पापमकार्यम्॥ १०॥]

धर्म को उल्लंघन करनेवाले, झूठ बोलने वाले, परलोक के प्रति उदासीन रहने वाले प्राणी को ऐसा कोई पाप नहीं है जो अकार्य हो ॥ १० ॥

जेतवन (विषयवस्तु) असदिसदान

१७७—न वे कदरिया देवलोकं वजन्ति
बाला हवे नप्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो
तेनेव सो होति सुखी परत्थ॥ ११ ॥

[न वै कदर्याः देवलोकं व्रजन्ति
बाला ह वै न प्रशंसन्ति दानम्।
धीरश्च दानमनुमोदमानः
तेनैव स भवति सुखी परत्र॥ ११ ॥]

कृपण मनुष्य देवलोक को नहीं जाते हैं। मूर्ख मनुष्य दान की प्रशंसा नहीं करते हैं। धैर्यशाली मनुष्य दान का अनुमोदन करता हुआ, उसी से परलोक में सुख प्राप्त करता है॥ ११ ॥

जेतवन काल (अनाथपिण्डिकपुत्त)

१७८—पथव्या[1] एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।

"यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति...."।
—बृहदारण्यक उपनिषद्, १।४।१४।

१. पाठान्तर—पथब्या (ब्रह्मदेशीय), पठव्या (स्यामदेशीय)।
संस्कृत 'पृथिवी' शब्द के कई पालिरूप उपलब्ध होते हैं; जैसे· पृथिवी, पठावी पुथवी, पथवी आदि। कच्चायन व्याकरण में पुथुवी और पठवी इन दोनों की सिद्धि साक्षात् रूप से की गई है (सू० ४।६।४३ की वृत्ति) और पुथवी शब्द उस व्याकरण का सम्मत है २।१।१ व २।१।२१ सूत्रों की वृत्ति देखिए)। किन्तु प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'पथवी' कच्चायन का सम्मत है कि नहीं, यह बात सन्देहास्पद है। वैयाकरण मोग्गल्लान ने अवश्य ही स्पष्ट रूप से 'पथवी' शब्द को 'पुथुस्स पथव-पुथवा (३।३९)' सूत्र से सिद्ध कर दिया है। प्राकृत भाषाओं में तो पृथिवी शब्द के रूपों की कोई सीमा ही नहीं है, जैसे—पुथुवी, पुथवी

सब्बलोकाधिपच्चेन[1] सोतापत्तिफलं[2] वरं॥ १२॥

पुठवी (प्राकृत सर्वस्व पृ० १२४) पुहवी (प्राकृत प्रकाश १।१३, २९) पुहुई (हेमचन्द्र ८।२।११३) पुहई आदि। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने ठीक ही कहा है—"लघीयाञ्छब्दोपदेशो गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य गावीगोणीगोतागोपोतलिकादयोऽपभ्रंशाः।"

१. प्रस्तुत गाथा में 'एकरज्जेन' 'गमनेन' व 'सब्बलोकाधिपच्चेन' इन तीनों पदों में उपलब्ध तृतीया विभक्ति वस्तुतः दुर्घट है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से तो वे पद 'पञ्चमी विभक्ते (२।३।४२)' इस पाणिनीय सूत्र के ही लक्ष्यस्थल हैं। पाणिनीय 'पञ्चमी विभक्ते' सूत्रपूर्व सूत्र द्वारा प्राप्त निर्धारण षष्ठी तथा निर्धारण सप्तमी का अपवाद करता है। पालि व्याकरण में (कच्चायन व मोग्गल्लान) 'पञ्चमी विभक्ते' सूत्र के सदृश कोई भी अपवाद सूत्र नहीं उपलब्ध होता है। निर्धारण में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति के सामान्य विधान अवश्य वहाँ (सू० निद्धारणे च—कच्चायन २।६।३४, यतो निद्धारणं—मोग्गल्लान २।३८) है। अतः प्रस्तुत स्थलों में पालि व्याकरण के अनुसार षष्ठी या सप्तमी अथवा संस्कृत व्याकरण के अनुसार पञ्चमी विभक्ति होना ही समीचीन प्रतीत होता है। इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि पालि भाषा में प्रायः पञ्चमी विभक्ति में भी तृतीया के सदृश पद बनते हैं, अकारान्त शब्दों को छोड़ कर। जैसे—मुनिना, मुनिम्हा, मुनिस्मा। सूत्र—'झलतो च (कच्चायन २।४।१५)', 'ना स्मास्स (मोग्गल्लान २।८४)' आदि। अकारान्त शब्दों में भी कहीं कहीं इस सीमित विकल्प व्यवस्था का कार्य हो जाता था कि नहीं, इस प्रश्न का उत्तर पालि साहित्य में अनुसन्धेय है। ऐसी बातों को ध्यान में रखते हुए हमने संस्कृत छाया में पञ्चमी विभक्ति दी है।

२. बौद्ध साधकों के चार प्रकार होते हैं-(१) सोतापन्न (स्रोत आपन्न) (२) सकदागामी (सकृदागामी), (३) अनागामी और (४) अरहन्त (अर्हत्)

सोतापन्न साधक तथा सोतापत्ति फल—वह साधक सोतापन्न कहलाता है जिसने आष्टाङ्गिक मार्ग रूप बुद्धकथित धर्म को अपनाया है। सोतापन्न साधकों के ये चार व्रत या अङ्ग हैं, बुद्ध, धर्म, संघ तथा शील में विश्वास (देखिए—दीघनिकाय, ३रा भाग, पृ० १७७-१७८)। सोतापन्न साधकों को और सात बार जन्म लेना पड़ता है। सोतापत्ति अवस्था का सब से महत्वपूर्ण फल यह है

[पृथिव्या एकराज्यात् स्वर्गस्य गमनाद् वा ।
सर्वलोकाधिपत्यात् स्रोतआपत्तिफलं वरम् ॥ १२ ॥]

पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य से, स्वर्ग में जाने से और सब लोकों के आधिपत्य से स्रोतःआपत्ति का फल श्रेष्ठ है[1] ॥ १२ ॥

—:०:—

कि उनके सक्कायदिट्ठ, विचिकिच्छा और सीलब्बतपरामास इन तीनों संयोजनों का परिक्षय हो जाता है (दीघनिकाय, ३रा भाग, पृ० १०२)। सोतापत्ति फल के चार अङ्ग होते हैं—सप्पुरिससंसेव, सद्धम्मसवन योनिसोमनसिकारो, धम्मानुधम्मपटिपत्ति (दीघनिकाय ३ रा भाग, पृ० १७७)।

सकदागामी साधक तथा उस अवस्था का फल—

यह साधकों की द्वितीय अवस्था है। इनको केवल एक ही बार पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है (भिक्खु तिण्णं संयोजनानं परिक्खया रागदोसमोहानं तनुत्ता सकदागामी होति सकिदेव इमं लोक आगन्त्वा दुक्खस्सन्त करोति—दीघनिकाय, १ला भाग पृ० १३३)।

अनागामी साधक तथा उसका फल—

यह साधकों की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था को प्राप्त किया हुआ साधक केवल एक ही बार देवलोक में जन्म लेता है। किन्तु बौद्ध शास्त्रों में प्रायशः 'अनागामी' शब्द की जगह ओपपातिक शब्द ही मिलता है (देखिए—दीघनिकाय, १ ला भाग, पृ० १३३ आदि)। इस अवस्था में ओरम्भागिय-संयोजनों का परिक्षय हो जाता है (वहीं तथा मज्झिमनिकाय, पृ० ३४)। ओपपातिक शब्द का अधिक प्रयोग होने से भी 'अनागामिफल' शब्द का प्रयोग भी मिलता है (दीघनिकाय, पृ० १९५)।

अरहन्त शब्द के लिए १६४ संख्यक गाथा की टिप्पणी।

१. पृथिवी में चक्रवर्तिराज्यलाभ, स्वर्गगति, सर्व लोकों का एकाधिपत्य आदि विभवों से भी सोतापत्ति फल का इतना महत्त्व तथा श्रेष्ठता मानने का यह कारण है कि उन सबों से निरयादि दुःख तथा पुनः पुनः आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती जो कि सोतापन्न (स्रोत आपन्न) श्रावक अवश्य ही प्राप्त करेगा। इस

गाथा का व्याख्यान करते हुए भदन्त बुद्धघोष ने कहा—"... यस्मा एत्तके ठाने रज्जं कारेत्वापि निरयादीहि पि अमुत्तो व होति सोतापन्नो पन पिहितअपायद्वारो हुत्वा सब्बदुब्बलोपि अट्ठमे भवे न निब्बत्तति, तस्मा सोतापत्ति फलमेव वरं..........."। वस्तुतः, निःश्रेयसलिप्सु मुमुक्षुओं के लिए जागतिक अभ्युदय तथा स्वर्गप्राप्ति कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है, उनका लक्ष्य ऐसा स्थान है जहाँ से फिर जन्मजरादि दुःख रूप संसार में नहीं लौटना पड़ता है, इस लिए श्रीमद्-भगवद्गीता में श्रीभगवान् की चेतावनी सुनाई पड़ती है—

"आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" ॥८।१६॥

—:०:—

बुद्धवग्गो चुद्दसमो

(बुद्धवर्गश्चतुर्दशः)

बोधिमण्ड मारधीतरो

१७९—यस्स जितं नावजीयति जितमस्स नो याति कोचि लोके।
तं बुद्ध[1]मनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ॥ १ ॥

---

१. 'बुद्ध' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ विशेष ध्यानार्ह है। अशेषज्ञान-सम्पन्न भगवान् तथागत गौतम की उपाधि के रूप से प्रसिद्ध होने के कारण प्रायः 'बुद्ध' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'ज्ञानी' ऐसा बताया जाता है और ज्ञानार्थक (वस्तुतः अवगमनार्थक द्र० पा० धा० ८५८, अथवा पा० धा० ११७२ बुध अवगमने) 'बुध' धातु से 'क्त' प्रत्यय द्वारा इस शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। 'बुद्ध' शब्द दिवादिगणीय 'बुध' धातु से 'क्त' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ है इसमें कोई सन्देह नहीं है किन्तु 'बुध' धातु का अर्थ तथा प्रस्तुत स्थल में 'क्त' प्रत्यय का वाच्य विशेष विचारार्ह है। उक्त धातु का अर्थ केवल 'अवगमन' अर्थात् ज्ञान ही मान लिया जाय तब तो उसका सकर्मकत्व भी मानना पड़ेगा। अतः सामान्य विधि से अतीत काल में प्रयुक्त (पा० ३।२।१०२ अथवा 'मतिबुद्धि—(पा० ३।२।१८८)' इत्यादि विशेष विधि से वर्तमान काल में प्रयुक्त (जैसा अमरकोष टीका में भानुजी दीक्षित ने बताया है) 'क्त' प्रत्यय का कर्मवाच्य (पा० ३।४।७०) भी अनिवार्य हो जायगा। तब वह 'बुद्ध' शब्द कैसे कर्तृपद का विशेषण होकर 'ज्ञानी' इस अर्थ का वाचक होगा ? वस्तुतः इस 'बुद्ध' शब्द का मुख्य अर्थ है 'जागरित' क्योंकि धातुपाठ में वैसा अर्थ निर्देश नहीं रहने से भी (लक्षणीय है पालि धातुपाठों में भी 'बुध' धातु का अर्थ केवल 'अवगमन' ही बतलाया गया है, द्र० कच्चायन धातुमञ्जूसा ४२, १०८ मोग्गल्लान धातुपाठ ३४१) बहुत प्राचीन काल से संस्कृत भाषा में 'जागरण' अर्थ के लिए 'बुध' धातु का प्रयोग होता रहा; जैसा बृहदारण्यक उपनिषद् में पाया जाता है—"........अयं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरन्ति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च (४।३।१९)"। लौकिक-संस्कृत-साहित्य में भी 'जागरण' इस अर्थ

[यस्य जितं नावजीयते जितमस्य न याति कश्चिल्लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरम् अपदं केन पदेन नेष्यथ ॥ १ ॥]

जिसका विजय किया हुआ, पराजय में नहीं बदलता; जिसकी विजय को संसार में कोई नहीं पहुँचता, उस अनन्त एवं अपद बुद्ध को किस उपाय से तुम अस्थिर कर सकोगे ॥ १ ॥

१८०—यस्स जालिनी विसत्तिका तण्हा नत्थि कुहिञ्चि[1] नेतवे ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं अपदं केन पदेन नेस्सथ ॥ २ ॥

के लिए 'बुध' का प्रयोग दुष्प्राप्य नहीं है, जैसे—'ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः (रघुवंश, १०।६), ['आदिपुरुषो विष्णुश्च बुबुधे योगनिद्रां जहौ'—मल्लिनाथ]। उक्त बुध धातु का जागरणार्थं होने से 'सत्तालज्जास्थिति-जागरणम्' आदि वचनानुसार अकर्मत्व सिद्ध होता है और 'गत्यर्थकर्मका०—' (पा० ३।४।७२) इत्यादि सूत्र के अनुसार उससे कर्तृवाच्य में 'क्त' प्रत्यय होने में कोई आपत्ति नहीं रहती है। उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार 'बुध' शब्द का मुख्यार्थं होता है 'जागरित' (अर्थात् 'जागा हुआ') और 'तत्त्वज्ञान में प्रबुद्ध' या 'ज्ञानी' ऐसा अर्थ लक्षणा द्वारा ही प्राप्त होता है। हमें विश्वास है कि पालि-शास्त्र के व्याख्याकार भदन्त बुद्धघोषादि प्राज्ञ आचार्यं लोग भी इस व्युत्पत्ति के साथ सहमत होंगे। धम्मसंगणि की अट्ठकथा में (पृ. २१७ P.T.S.) 'बुज्झति' पद की व्याख्या करते हुए भदन्तजी ने लिखा—'किलेस-सन्तान-निद्दाय उट्ठहति, चत्तारि वा अरियसच्चानि पटिविज्झति, निब्बानं एव वा सच्छिकरोति.......'।

१. कुहिञ्चि=कुत्रचित् (सं०)। 'किम्' शब्द के बाद सप्तमी के अर्थ में 'हिं' प्रत्यय होता है (हं और हिंचन भी); सूत्र 'हिं-हं-हिञ्चनं (कच्चायन, २।५।६)'। हिं आदि प्रत्ययों की परता में 'किम्' शब्द का 'कु' आदेश हो जाता है; सूत्र—'कु हिंहंसु च (कच्चायन, २।४।१८)'। एक ही अर्थं में उपर्युक्त सूत्रों के द्वारा 'कुहं' और 'कुहिंचन' पद भी सिद्ध होते हैं। यद्यपि सभी सम्पादक 'कुहिञ्चि' पद की छाया में 'कुत्रचित्' लिखते हैं किन्तु हमारे विचार से 'कस्मिश्चित्' लिखना ही अधिक मूलानुसारी होगा। प्राकृत वैयाकरणों का सिद्धान्त भी इस मत का पोषक होगा। प्राकृत भाषा में जो 'कहिं' पद उपलब्ध होता है वह प्राकृत व्याकरणों में सप्तम्यन्त ही माना जाता है। देखिए सूत्र 'ङेर्हिं' प्राकृत प्रकाश, ६।७' अथवा सिद्धहेम, ३।६०। वस्तुतः पालि 'कुहिं' पद

[यस्य जालिनी विषात्मिका तृष्णा नास्ति कुत्रचिन्नेतुम्।
तं बुद्धमनन्तगोचरम् अपदं केन पदेन नेष्यथ ॥ २॥

जिसको जालयुक्त तथा विष से भरी तृष्णा कहीं नहीं ले जा सकती, उ
अनन्त एवं अपद बुद्ध को किस उपाय से तुम अस्थिर कर सकोगे ॥ २ ॥

सङ्कस्स-नगर-द्वार बहुदेवमनु

१८१—ये झानपसुता धीरा नेक्खम्मूपसमे[1] रता।
देवा पि तेसं पिहयन्ति सम्बुद्धानं सतीमतं ॥ ३ ॥

[ये ध्यानप्रसृताः धीराः नैष्काम्योपशमे रताः।
देवाः अपि तेभ्यः स्पृहयन्ति सम्बुद्धेभ्यः स्मृतिमद्भ्यः ॥ ३ ॥]

जो ध्यान में लगे हुए हैं, धैर्यशाली हैं, निष्काम कर्म के द्वारा शान्ति प्रा
करने में लगे हैं, उन स्मृतियुक्त बुद्धों से देवतागण ईर्ष्या करते हैं ॥ ३ ॥

वाराणसी एरकपत्त (नागराज

१८२—किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मरस्सवणं किच्छो बुद्धानमुप्पादो[2] ॥ ४॥

वैदिक 'कुह' और प्राकृत 'कहिं' इन दोनों का संकररूप मात्र है।

१. पालि 'नेक्खम्म' शब्द का मूल संस्कृत रूप तथा इसके प्रकृत आश
के बारे में विशेष मतभेद है। फज़्बोल तथा राहुल सांकृत्यायन आदि विद्वानों
मतानुसार इसका मूलरूप है 'नैष्कर्म्य', अतः उसका तात्पर्य कर्मविहीन ध्यानप
अवस्था ही है। किन्तु यह तात्पर्य चाइल्डार्स तथा रीज डेविड्स आदि विद्वा
का सम्मत नहीं हुआ क्योंकि उनके मतानुसार 'नेक्खम्म' शब्द संस्कृत नैष्क्रम्य
शब्द का पालिरूप है तथा पालि शास्त्र में बहुशः प्रयुक्त 'निक्खमति' (निष्क्रामति
क्रियापद के साथ सादृश्य रखता है। विशेषतः, बौद्धसन्यास में नैष्कर्म्य अर्था
कर्मशून्यता का कोई स्थान नहीं है। अतः उनके मतानुसार इस शब्द क
तात्पर्य है संसार को छोड़कर प्रव्रज्या का ग्रहण। इस प्रसंग में भदन्त बुद्धघो
का व्याख्यान अवश्य ध्यान देने योग्य है जो अट्ठकथा में कहे हैं—"नेक्खम्मूपसमे
रता ति एत्थ पब्बज्जा नेक्खम्मन्ति न गहेतब्बा किलेसवुपसमनिब्बानरतिं प
सन्धायेतं वुत्तं (ब्रह्मदेशीय पाठ)।"

२. यहाँ 'बुद्ध' शब्द का बहुवचन में प्रयोग विशेष ध्यानार्ह है। उसक
प्रयोग प्रायः संज्ञा शब्द की तरह किया जाता है, किन्तु 'बुद्ध' शब्द व्यक्ति

[कृच्छ्रो मनुष्यप्रतिलाभः कृच्छ्रं मर्त्यानां जीवितम् ।
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं कृच्छ्रो बुद्धानामुत्पादः ॥ ४ ॥]

विशेष का किसी के द्वारा रखा गया नाम नहीं है—विशेष गुण तथा अवस्थाओं का प्रकाशक सामान्य शब्द है। इस लिए शास्त्र में कहा गया है, 'बुद्धो ति नेतं नामं मातरा कतं, न पितरा कतं, न भातरा कतं, न भगिनिया कतं, न मित्तामच्चेहि कतं, न ञातिसालोहितेहि कतं, न समणब्राह्मणेहि कतं, न देवताहि कतं (पटिसम्भिदामग्ग, पृ० २०२, महानिद्देस पृ० ३९९)'। 'बुद्ध' ऐसी उपाधि होने का तात्त्विक कारण भी विस्तृत रूप से बतलाया गया है, जैसे—'बुद्धो ति केनट्ठेन बुद्धो ? बुज्झिता सच्चानीति—बुद्धो। बोधेता पजाया ति बुद्धो। सब्बञ्ञूताय बुद्धो.......' इत्यादि (वहीं)। अनेक व्यक्ति सर्वज्ञत्वादि के लाभ से बुद्ध कहला सकते हैं—'विमोकखन्तिकमेतं बुद्धानं भगवन्तानं बोधिया मूले सह सब्बञ्ञूतञाणस्स पटिलाभा सच्छिका पञ्ञत्ति यदिदं बुद्धो ति' (वहीं)। बौद्धशास्त्र के अनुसार कहा जा सकता है कि भगवान् गौतमबुद्ध के पहले भी अनेक बुद्ध अवतीर्ण हुए और उनके बाद भी अनेक बुद्ध अवतीर्ण होंगे। दीघनिकाय (२ रा भाग, पृ० ३) आदि ग्रन्थों में सात बुद्धों के नाम पाए जाते हैं, जैसे; विपस्सी, सिखी, वेस्सभू, ककुसन्ध, कोणागमन, कस्सप, गोतम। बुद्धवंश में इन सात बुद्धों के पूर्ववर्ती और अठारह बुद्धों का उल्लेख पाया जाता है—दीपङ्कर, कोण्डिञ्ञ, मङ्गल, सुमन, रेवत, सोभित, अनोमदस्सी, पदुम, नारद, पदुमुत्तर, सुमेध, सुजात, पियदस्सी, अत्थदस्सी, धम्मदस्सी, सिद्धत्थ, तिस्स और फुस्स। महावस्तु, ललितविस्तर आदि उदीच्य बौद्धग्रन्थों में बुद्धों की संख्या और अधिक, सौ तक मिलती है। अनागतवंस नामक पालि ग्रन्थ में गौतम बुद्ध के बाद आनेवाले बुद्धों का वर्णन मिलता है।

पालिशास्त्रों के अनुसार बुद्धों के दो प्रकार होते हैं—पच्चेक बुद्ध और सम्मासम्बुद्ध। पच्चेक बुद्ध बोधि को प्राप्ति करते हैं किन्तु और लोगों के उद्धार के लिए सद्धर्म का प्रचार नहीं करते हैं और सम्मासम्बुद्ध जीवों के उपकारार्थ धर्म का प्रचार करते हैं, जिस लिए वे सत्था (शास्ता) और भगवा (भगवान्) भी कहलाते हैं। सम्मासम्बुद्ध देव और मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं (मज्झिमनिकाय, २।३८९)। उपर्युक्त सभी बुद्ध सम्मासम्बुद्ध हैं। बौद्धशास्त्रों में विशेषतया टीकाग्रन्थों में अतीत और अनागामी सभी बुद्धों के बारे में विस्तृत विवरण दिया

मनुष्यता की प्राप्ति कठिन है[1], मनुष्यों का जीवन कठिन है, सद्धर्म सुनना कठिन है और बुद्धों की उत्पत्ति कठिन है ॥ ४ ॥

जेतवन

आनन्द

१८३—सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा[2] ।
सचित्तपरियोदपनं[3] एतं बुद्धान सासनं ॥ ५ ॥
[सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा ।
स्वचित्तपर्यवदापनम् एतद् बुद्धानां शासनम् ॥ ५ ॥]

गया, उनके कल्प, जाति, गोत्र, यान आदि सभी बतलाये गये हैं। स्थाना के कारण यहाँ सबों का पूर्ण विवरण नहीं दिया जा सकता है। कुछ टीका का सिद्धान्त यह है कि बुद्ध केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न सकते हैं दूसरे कुल में नहीं।

१. मनुष्य जन्म की दुर्लभता आर्षशास्त्रों की अनुयायी ग्रन्थों में भी जाती है।

दुर्लभं त्रयमेवैतद् दैवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

२. स्यामदेशीय पाठान्तर 'कुसलस्सुपसम्पदा' यहाँ छन्द की दृष्टि से अ समीचीन प्रतीत होता है, लेकिन प्राचीन सिंहली तथा ब्रह्मदेशीय परम्परा अनुकूल नहीं है। पालिशास्त्र के प्राचीन पाठ में अनेक स्थलों में ही ऐसा छन्द मङ्ग दोष दिखाई पड़ता है, जो परवर्ती स्याम तथा ब्रह्मदेशीय पाठ में सु दिया गया है।

३. यहाँ सिंहली आदि पाठों में कोई भी पाठभेद उपलब्ध नहीं होता लेकिन बुनर्फ तथा डॉ. मिल यहाँ 'सचित्तपरिदमनं' ऐसे पाठ की कल्पना क हैं जो सर्वथा वस्तुस्थिति के विरुद्ध है। परियोदपन शब्द की (संस्कृत) व्युत्पत्ति परि + अव + दा + णिच् + ल्युट्। संस्कृत 'अव' उपसर्ग का 'ओ' आदेश हो प्राकृत भाषाओं का एक साधारण नियम है; सूत्र—'ओदवापयोः (प्राकृत प्र ४।२१)' यह परिवर्तन पालि वैयाकरणों का भी मान्य है; सूत्र—'ओ अव (कच्चायन, १।५।९)'।

'परियोदपनं' का टीकाकारसम्मत अर्थ है पञ्च नीवरणों से अपने चित्त शुद्धि ('परियोदपनं ति पञ्चहि नीवरणेहि अत्तनो चित्तस्स वोदपनं'—अट्ठकथा देखिये ८८ संख्यक गाथा की टिप्पणी।

सब प्रकार के पापों का न करना, अच्छे कार्यों की सम्पत्ति जुटाना[1] तथा अपने चित्त को शुद्ध बनाना—यह बुद्धों का उपदेश है ॥ ५ ॥

१८४—खन्ती[2] परमं तपो तितिक्खा[3]

---

१. 'कुसलस्य उपसम्पदा' का सामान्य अर्थ है कुशल अर्थात् पुण्य कर्मों का आचरण। किन्तु 'उपसम्पदा' का विशेष अर्थ भी बौद्धशास्त्र में प्रसिद्ध है। इसलिए प्रस्तुत गाथा की व्याख्या करते हुए भदन्त बुद्धघोष ने लिखा—"उपसम्पदा ति अभिनिक्खमनतो पट्ठाय याव अरहत्तमग्गा कुसलस्स उबपाञ्चेव उप्पादितस्स च भावना।" व्रत ग्रहण के अर्थ में 'उपसम्पदा' शब्द का प्रयोग त्रिपिटक में बहुलतया उपलब्ध है; जैसे—'सा व तस्स आयस्मतो उपसम्पदा अहोसि (महावग्ग पृ० १५)'।

२. खन्ति (संस्कृत-क्षान्ति)=खम् + ति। खन्ति शब्द की सिद्धि के लिए कच्चायन आदि पालि वैयाकरणों ने बहुत ही अवैज्ञानिक मार्ग अपनाया है। कच्चायन के मतानुसार खम् धातु के बाद आने वाला 'ति' प्रत्यय का 'न्ति' आदेश हो जाता है और धातु का अन्त्य वर्ण अर्थात् 'म्'कार लोप हो जाता है; देखिए 'पक्कमादीहि न्तो च (४।३।१४)' सूत्र तथा उसकी वृत्ति। वस्तुतः, 'त' की परता में अपदान्तस्थ 'म्'कार का नकार आदेश होना (जैसा संस्कृत व्याकरण में दिखाया गया है) ही सर्वथा तर्कसम्मत है। संस्कृत परिनिष्ठित 'क्षान्ति' शब्द से 'ष्कस्कक्षां खः (प्राकृतप्रकाश ३।२९)' सूत्र तथा 'सन्धा॰ वच्—(४।१)' इत्यादि सूत्र की वृत्ति के अनुसार 'खन्ति' शब्द निष्पन्न होता है।

(ख) कच्चायन व्याकरण की वृत्ति में एक बार 'दीघं (१।३।२)' सूत्र के उदाहरणतया 'खन्ती परमं' का दीर्घत्व दिखाया गया, फिर 'क्वचादिमज्झुत्तरानं दीघरस्सा पच्चयेसु च (२।८।५०) की वृत्ति में भी दीर्घत्व को अन्त्य दीर्घत्व का उदाहरण बतलाया गया है। वस्तुतः, अनियमित प्राकृतिक-भाषाओं के ऊपर आधारित होने के कारण पालिभाषा में ह्रस्व दीर्घ विधि ऐसी अनियमित हो जाती है जिसके लिए परवर्ती वैयाकरण भी संशय में पड़ जाते हैं।

३. (क) 'तितिक्खा (सं० तितिक्षा)' और 'खन्ति' (क्षान्ति) शब्द वस्तुतः समानार्थक हैं; क्योंकि गुप्, तिज् आदि धातु से सन् प्रत्यय का प्रयोजन तथा अर्थ बताते हुए वार्तिककार ने (पा. ३।१।५) कहा 'निन्दाक्षमाव्याधिप्रतीकारेषु सन्निष्यते अन्यत्र यथाप्राप्ताः प्रत्यया भवन्ति' (काशिका)। अमरकोष

निब्बानं[1] परमं बदन्ति बुद्धा।

में भी ये दो शब्द समानार्थक बतलाये गये हैं (१।७।२४)। अतः एक ही जगह में दोनों के प्रयोग की आवश्यकता ठीक नहीं समझ में आती है। भदन्त बुद्धघोष ने यहाँ किसी तरह से सङ्गति की है, जिन्होंने लिखा, 'खन्तीति या एका तितिक्खासंखाता खन्ति नाम इदं इमस्मि सासने परमं उत्तमं तपो'।

(ख) 'तितिक्षते', 'तितिक्षा' आदि पद संस्कृत व्याकरण में तिज् धातु से सन् प्रत्यय से ही निष्पन्न किए गए हैं, और सैकड़ों सन्नन्त पदों से उनकी कोई विशेषता भी नहीं है। पालि 'तितिक्खति', 'तितिक्खा' आदि पद स्पष्टतः प्राकृत के साधारण वर्णपरिवर्तन सम्बन्धी विधियों (प्रस्तुत स्थलपर 'ष्कस्कक्षां खः', प्रा.प्र. ३।२९, 'शेषादेशयोर्द्वित्वमनादौ' प्रा.प्र. ३।५०, वर्गेषु युजः पूर्वः प्रा. प्र. ३।५१) से ही निष्पन्न होते हैं, जो परिवर्तन सर्वथा भाषा विज्ञान के भी सम्मत हैं। किन्तु पालि वैयाकरण पालिभाषा की स्वतन्त्रता प्रतिपादित करने के लिए इतना दूर गए हैं कि उन्हें 'गुप्' 'तिज्' और 'कित्' धातु के लिए अलग-अलग छ, ख और स प्रत्यय का विधान करना पड़ा; सूत्र—'तिजगुपकितमानेहि खछसा वा (कच्चायन, ३।२।२)', जिससे शास्त्र का अहेतुक गौरव हो गया है, लक्षण भी विश्वतोमुख नहीं होने पाया। कच्चायन व्याकरण में फिर 'तितिक्खा' शब्द की निपातन सिद्धि बतायी गई है, (सूत्र—बजादीहि पब्बज्जादयो निपच्चन्ते, ४।६।१५ सूत्र की वृत्ति (जिसकी कोई आवश्यकता समझ में नहीं आती है।

१. पालि बौद्धशास्त्र में बहुधा प्रयुक्त 'निब्बान' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसका व्युत्पत्तिगत अर्थ विशेष सन्देहास्पद है। 'निब्बान' शब्द का आधार (संस्कृत) 'निर्' पूर्वक 'वा' (वा गतिसन्धनयोः, पा. धा. १०७५) धातु है या 'वृ' धातु है, इसके बारे में अभिधानकार रीज़ डेविड्स ने विशेष विवेचन प्रस्तुत किया है। विशेष आश्चर्य की बात यह है कि कच्चायन, मोग्गल्लान आदि पालि के वैयाकरणों ने साक्षात् रूप से 'निब्बान' शब्द की कोई व्युत्पत्ति नहीं दिखलाई है। यह बात तो अवश्य ही ठीक है कि 'निर्वाण' शब्द से पाणिनि परिचित थे किन्तु 'निर्वाणोऽवाते (पा. ८।२।५०)' सूत्र द्वारा जिस 'निर्वाण' शब्द की सिद्धि उन्होने की, उसके साथ बौद्धशास्त्र में प्रयुक्त 'निब्बान' शब्द का अर्थगत सम्बन्ध है या नहीं, यह विशेष चिन्तनीय है। निर्वाण शब्द गत्यर्थक 'वा'

धातु से निष्पन्न है और उसका साधारण अर्थ है 'निर्गत'। आर्ष सिद्धान्तानुगत अमृतत्वस्वरूप भावात्मक मोक्ष को निर्वाण कहना उचित नहीं प्रतीत होता। बौद्धशास्त्र में आध्यात्मिक चरम अवस्था की प्रायशः प्रदीप के बुत जाने के साथ उपमा दी जाती है जिससे यह निर्वाण शब्द चरम आध्यात्मिक लाभ का नामान्तर हो गया है। निर्वाण प्राप्त अर्थ में पालि शास्त्र में प्रायशः 'निब्बुत' (सं. निर्वृत) शब्द का प्रयोग किया जाता है जिससे रीज़ डेविड्स अनुमान करते हैं कि 'निब्बान' शब्द 'वृ' धातु से ही निष्पन्न है। वस्तुतः 'बुता हुआ' के अर्थ में प्रयुक्त प्राचीन निर्वाण शब्द का ही रूपक की दृष्टि से पहले पालिशास्त्र में प्रयोग शुरू हुआ होगा, जो बाद में अपवर्ग अर्थ के लिए रूढ़ हो गया है। 'शान्ति' का पर्याय 'निर्वृति' शब्द भी प्रसिद्ध था जिससे 'निब्बुत' यह विशेषण शब्द सिद्ध हुआ और अर्थ के सादृश्य से 'निब्बान' के साथ उसका प्रयोग शुरू हो गया।

बौद्ध निर्वाण भावात्मक शान्तिमय अवस्थाविशेष है या अभावात्मक शून्यस्वरूप है इस विषय में भी बहुत मतभेद है। सुत्तनिपात आदि प्राचीन ग्रन्थ देखने से मालूम पड़ता है (देखिए सुत्तनिपात ५।९९, १०१, ११९ आदि) कि पहले निर्वाण अभावात्मक ही माना जाता था। भदन्त अश्वघोष ने सौन्दरानन्द काव्य में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है—

दीपो तथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥ १६।२८-२९

बाद में आर्षशास्त्रों के मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस आदि शब्दों के साथ निर्वाण शब्द समानार्थक हो गया। जैसे अमरकोष में अमरसिंह (स्वयं बौद्ध) कहते हैं— "मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्। मोक्षोऽपवर्गः (१।५।६-७)।"

आर्षसिद्धान्तानुसारी ग्रन्थों मे भी स्वसिद्धान्त के अनुसारी अपवर्ग के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग होने लगा। जैसे—

न हि पब्बजितो परूपघाती
समणो[१] होति परं विहेठयन्तो ॥ ६ ॥
[क्षान्तिः परमं तपः तितिक्षा
निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः ।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
—श्रीमद्भागवत, ३।२८।३५

स्थानाभाव के कारण यहाँ बौद्धशास्त्र में उपलब्ध 'निर्वाण' के दार्शनिक स्वरूप का विवेचन नहीं किया गया है ।

१. 'समण' शब्द का आधार अवश्य ही संस्कृत 'श्रमण' शब्द है जो बहुत काल से ही संन्यासी अर्थ में प्रसिद्ध था । इस शब्द का उपर्युक्त अर्थ में प्रयोग शतपथब्राह्मण में ही मिलता है, जैसे—"अत्र पिताऽपिता ..श्रमणोऽश्रमणो ....भवति" (बृहदाण्यक उपनिषद्, ४।३।२२) ['श्रमणः परिव्राट्'=शाङ्कर-भाष्य] । श्रमण शब्द की व्युत्पत्ति, श्रम् + ल्यु कर्तरि अर्थात् 'श्राम्यति तपस्यतीति' ऐसी दिखाई गई है । बाद में यह शब्द केवल बौद्ध तथा जैन सन्यासियों के लिए प्रयुक्त होने लगा और ब्राह्मणों से प्रभेद सूचित करने के लिए भी इसका प्रयोग ब्राह्मण शब्द के साथ किया जाता रहा । ऐसा प्रयोग पालि शास्त्रों में तथा अशोक के अभिलेखों में बहुलतया दिखाई पड़ता है । किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि धम्मपद के संकलन के समय में ही बौद्धों ने 'समण' शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति की कल्पना की । उनके मतानुसार उपशमार्थक 'सम (सं. शम)' धातु से 'समण' शब्द निष्पन्न हुआ । धम्मपद की २६५ गाथा (धम्मट्ठवग्ग, १०) में कहा गया है —

"यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बतो ।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति ॥"

कहने की आवश्यकता नहीं है कि, 'समण' शब्द का उपर्युक्त निर्वचन गाथाकार की कपोलकल्पना मात्र है क्योंकि 'समण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'शम' धातु से मान लेने से केवल बृहदाण्यक उपनिषद्, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध प्रयोग के साथ ही नहीं अपितु उदीच्य बौद्धों के संस्कृतभाषामय शास्त्र के साथ भी विरोध हो जाता है (जैसे—श्रमणो गौतमो मदीयान् श्रावकानन्वार्तयिष्यति—दिव्यावदान, पृ० १०१) ।

न हि प्रव्रजितः परोपघाती
श्रमणो भवति परं विहेडमानः ॥ ६ ॥]

क्षमाशीलता परम तप है, तितिक्षा परम निर्वाण है[1]—ऐसा बुद्धों का कहना है। दूसरों का घात करनेवाला प्रव्रजित नहीं होता तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला श्रमण नहीं होता ॥ ६ ॥

१८५– अनूपवादो अनूपघातो[2] पातिमोक्खे[3] च संवरो।

---

१. पण्डित मैक्समूलर भी 'क्षन्ति' को 'परम तप' के साथ और 'तितिक्षा' को 'परम निर्वाण' के साथ जोड़कर अनुवाद करते हैं (Patience the highest penance, long suffering the highest Nirvana ....)। किन्तु 'तितिक्षा' को 'परम निर्वाण' कहना बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध होगा क्योंकि उस दर्शन के अनुसार 'निर्वाण' साध्य है और "तितिक्षा" उसी साध्य के लिए अनेक साधनों में से एक है। वस्तुतः, मैक्स-मूलर का अनुवाद बुद्धघोष के व्याख्यान करते हुए भदन्त बुद्धघोष ने कहा है-- 'खन्तीति या एसा तितिक्खसङ्खाता खन्ती नाम। इदं इमस्मिं सासने परमं उत्तमं तपो। निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा ति बुद्धा च पच्चेकबुद्धा च अनुबुद्धा चाति इमो तयो बुद्धा निब्बानं उत्तमन्ति वदन्ति ॥' फज़बोल, चाईल्डार्स आदि पाश्चात्य विद्वान् तथा प्रायः सभी भारतीय विद्वान् यहाँ प्राज्ञ टीकाकार का ही अनुसरण करते हैं।

२. अनुवादवादो अनुपघातो--स्यामदेशीय पाठान्तर।

३. पातिमोक्ख (सं० प्रातिमोक्ष ?) भिक्षुओं के लिए अवश्य पालनीय कुछ शीलसम्बन्धी नियम हैं। उक्त नियमों का एक प्राचीन संग्रह भी पातिमोक्ख कहलाता है। उक्त नियमों की संख्या दो सौ मानी जाती है, किन्तु यह संख्या शायद और भी कम थी। पातिमोक्ख नियमों का एकत्र पृथक् संग्रह आज उपलब्ध नहीं होता है, परन्तु विनयपिटक के अन्तर्गत सुत्तविभङ्ग नामक भाग में प्राचीन व्याख्यान के साथ उन नियमों का संकलन दिखाई पड़ता है। पाति-मोक्ख सूत्रों के ऊपर भदन्त बुद्धघोष की कङ्खावितरणी नामक टीका प्रसिद्ध है। 'पातिमोक्ख' शब्द की व्युत्पत्ति विशेष विवादास्पद है। 'प्रातिमोक्ष' संस्कृत रूप प्रसिद्ध होने के कारण (उदीच्य संस्कृत ग्रन्थ में वैसा ही मिलता है) इसका अर्थ 'मोक्षप्रद नियम' समझा जाता है। द्र०--'तं प्रातिमोक्षं भव दुःख-

मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तं च सयनासनं[1]।
अधिचित्ते च आयोगो एतं बुद्धान सासनं[2] ॥ ७ ॥
[अनपवादोऽनपघातः प्रातिमोक्षे च संवरः।
मात्राज्ञता च भक्ते प्रान्ते च शयनासनम्।
अधिचित्ते चायोगः एतद् बुद्धानां शासनम् ॥ ७ ॥]

किसी की निन्दा न करना, किसी को चोट न पहुँचाना, प्रातिमोक्ष (अर्थात् भिक्षुओं के लिए प्रवर्तित शीलों) के नियमों का पालन करना भोजन में निश्चित परिमाण का ज्ञान रखना, एकान्त स्थान में शयन तथा आसन रखना, चित्त को योगयुक्त रखना—यह बुद्धों का अनुशासन है ॥ ७ ॥

मोक्षं श्रुत्वानुधीराः सुगतस्य भाषितां'—महासांघिकानां प्रातिमोक्षसूत्रम्। कुछ विद्वानों का अभिप्राय यह है कि 'पातिमोक्ख' शब्द 'प्र', 'अति' और 'मुख' इन तीन शब्दों से बना था, बाद में 'मोक्ष' शब्द से इसके सम्बन्ध की कल्पना की गई थी (देखिए Dictionary of Pali Proper Names, भाग २, पृ० १८२)। किन्तु सम्भव है कि भदन्त बुद्धघोष उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्ति से ही परिचित रहे हों जिन्होंने कङ्खावितरणी टीका के प्रारम्भ में लिखा है—तत्थ पातिमोक्खन्ति प अति उत्तमं ति अत्थो........तत्थ शीलं यो नं पाति रक्खति, तं पाति मोक्खेति मोचयति आपायिकादीहि दुक्खेहि अत्तानुवादादीहि वा भयेहि.... ।'

१. भदन्त बुद्धघोष ने 'पन्तं' का अर्थ 'विवित्त (सं० विविक्तं)' बतलाया है जो सभी आधुनिक विद्वानों का भी सम्मत है। संन्यासियों के लिए एकान्त स्थान में शयन तथा आसन रखने का विधान आर्षशास्त्रों का भी सम्मत है, जैसा महाभारत में कहा गया है—

न चान्नदोषान्निन्देत न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥

—शान्तिपर्व, २७८।१२

२. बुद्धान सासनं=बुद्धानं + सासनं। व्यञ्जनवर्ण की परता में अनुस्वार का कभी कभी लोप हो जाता है। (सूत्र—'व्यञ्जने च,' कच्चायन, १।४।१०) ऐसा लोप प्राचीन गाथाओं में ही अधिकतया दिखाई पड़ता है। यह प्रायशः छन्द के लिए ही किया गया होगा जिस पर बाद के वैयाकरणों की भी सम्मति मिल गई।

जेतवन अनभिरतभिक्खु

१८६—न काहापणवस्सेन[1] तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा[2] कामा इति विञ्ञाय पण्डितो ॥ ८ ॥
[न कार्षापणवर्षेण तृप्तिः कामेषु विद्यते[3]।
अल्पस्वादाः दुःखाः कामाः इति विज्ञाय पण्डितः ॥ ८ ॥]

कार्षापण अर्थात् सोने की मुद्राओं की वर्षा से भी कामनाओं की तृप्ति नहीं होती है। कामनाएँ थोड़े स्वाद वाली तथा दुःखपूर्ण होती हैं—यह जानकर पण्डित— ॥ ८ ॥

१८७—अपि दिब्बेसु कामेसु रतिं सो नाधिगच्छति।
तण्हक्खयरतो[4] होति सम्मासम्बुद्धसावको[5] ॥ ९ ॥

---

१. काहापण=कार्षापण (सं०)। इस शब्द का आधार निश्चित रूप से ही संस्कृत 'कार्षापण' शब्द है जिससे प्राकृत भाषा में काहावण' शब्द बनता है (सूत्र—'कार्षापणे' प्रा० प्र० ३।३९, तथा २।१५)। सोने तथा चाँदी के सिक्के के लिए इस शब्द का व्यवहार था। इसके प्रकृत परिणाम तथा मूल्य के बारे में प्रचीन ग्रन्थों में मतभेद दिखाई पड़ता है। भगवान् मनु के मतानुसार 'कार्षापण' ताँबे का सिक्का होता था; 'कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः वार्षिकः पणः (८।१३६)' रोप्य कार्षापण का मूल्य षोडश पण के समान था। कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र (२।१८।३) से ज्ञात होता है कि 'कर्ष' एक भार का परिमाणवाची शब्द था जो अस्सी रत्ती के समान होता था। विद्वानों का निर्णय यह है कि कार्षापण सोना, चाँदी तथा ताँबा इन तीन धातुओं का ही होता था। कार्षापण का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से चला आया था।

२. संस्कृत 'दुःख' शब्द का स्वाभाविक पालिरूप 'दुक्ख' है किन्तु यहाँ छन्द की दृष्टि से ही 'क्' का लोप किया गया है।

३. तुलना कीजिए—
न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति। —मनुसंहिता, २।९४

४. तण्हक्खय=तृष्णाक्षयः (सं०)। संयोगवर्ण की परता में 'तण्हा' शब्द के आकार को ह्रस्व हो गया है। संयोगवर्ण की परता में दीर्घ स्वर को ह्रस्व आदेश होना प्राकृत भाषा की एक साधारण भाषावैज्ञानिक विधि है (सूत्र—'ह्रस्वः संयोगे', हेमचन्द्र, १।८४)।

५. 'सम्मासम्बुद्धसावक' का प्रकृत अर्थ है—भगवान् तथागत का अनुयायी

[अपि दिव्येषु कामेषु रतिं स नाधिगच्छति ।
तृष्णाक्षयरतः भवति सम्यक्सम्बुद्धश्रावकः ॥ ९ ॥]

दिव्य कामनाओं में आसक्ति को प्राप्त नहीं होता । पूर्णरूपेण प्रबुद्ध हुआ श्रावक तृष्णा के क्षय में लगा रहता है ॥ ९ ॥

जेतवन　　अग्गिदत्त ब्राह्मण

१८८—बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि[2] वनानि च ।
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता ॥ १० ॥
[बहु वै शरणं यान्ति पर्वतांश्च वनानि च ।
आरामवृक्षचैत्यानि मनुष्याः भयतर्जिताः ॥ १० ॥]

भय से दुःखी हुए मनुष्य पर्वत, वन, आराम, वृक्ष और चैत्यों की शरण में जाते हैं ॥ १० ॥

१८९—नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं ।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ ११ ॥

भिक्षु । भदन्त बुद्धघोष ने कहा है-'सम्मासम्बुद्धेन देसितस्स धम्मस्स सवनेन जातो योगाचारभिक्खु' । मैक्समूलर प्रस्तुत स्थल पर 'सम्मासम्बुद्ध' शब्द को 'सावक' शब्द का विशेषण समझ कर जो 'the disciple who is fully awakened' ऐसा अनुवाद करते हैं, वह सर्वथा भ्रमात्मक है, क्योंकि 'सम्मासम्बुद्ध' शब्द किसी भी सामान्य साधक की उपाधि नहीं हो सकता (देखिए १८२ संख्यक गाथा में 'बुद्धानं' पद की टिप्पणी), वह केवल सद्धर्म-प्रचारशील बुद्धविशेष की ही उपाधि हो सकता है ।

१. निवृत्तिपर धर्म का लक्ष्य जो निःश्रेयस है वह बहुत प्रकार के दिव्य भोगों से भी श्रेष्ठ है यह तत्त्व उपनिषदों में विस्तरशः वर्णित है—देखिए कठोपनिषद्, १।२५-२९ । यह गाथा महाभारत के निम्नलिखित श्लोक से प्रायः अक्षरशः मिलती-जुलती है :—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥—शान्तिपर्व, १७७।५१

२. संस्कृतभाषा में पर्वत शब्द केवल पुँल्लिग में ही प्रयुक्त होता है किन्तु पालि भाषा में क्लीबलिंग में भी इसका प्रयोग उपलब्ध होता है । इसका पुंलिंग प्रयोग के लिए देखिए, 'यथापि सेला विपुला नभं आहच्च पब्बता (संयुक्त निकाय भाग १, पृ० १०१)' ।

[नैतत् खलु शरणं क्षेमं नैतत् शरणमुत्तमम् ।
नैतत् शरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥ ११ ॥]

यह क्षेमकरी शरण नहीं है और उत्तम शरण भी नहीं है। इस शरण में आकर (कोई) सब दुःखों से नहीं छूटता है ॥ १ ॥

१९०—यो च बुद्धं च धम्मं च सङ्घं च सरणं[1] गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥ १२ ॥

[यश्च बुद्धश्च धर्मश्च सङ्घश्च शरणं गतः ।
चत्वारि आर्यसत्यानि सम्यक्प्रज्ञया पश्यति ॥ १२ ॥]

और जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में गया है, सम्यक् ज्ञान से वह मनुष्य चार आर्यसत्यों को देख लेता है ॥ १२ ॥

---

१. 'सरण (सं० शरण)' शब्द का मुख्य अर्थ है 'गृह' या 'निवास-स्थान'। संस्कृत में इसी अर्थ में 'शरण' शब्द का प्राचीन प्रयोग उपलब्ध होता है, जैसे—

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥

—महाभारत, आदिपर्व, १०५।४

किन्तु जिस 'शॄ' धातु से इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत वैयाकरणों ने बतायी, उसका अर्थ है हिंसा' ('शॄ हिंसायाम्'—पा. धा. १४८८)। अतः इस शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ सन्देहास्पद रह जाता है। 'शृणाति दुःखमनेनेति' इत्यादि व्याख्या (शब्दकल्पद्रुम में) 'गृह' इस अर्थ के लिये नहीं जँचती है। अस्तु, 'शरण' शब्द का 'आश्रय' या 'आश्रय योग्य व्यक्ति' या 'तत्त्व' यह अर्थ बहुत प्राचीन प्रयोगों में दिखाई पड़ता है। पालिसाहित्य में 'गृह' अर्थ के लिए 'सरण' शब्द का प्रयोग सर्वथा दुष्प्राप्य नहीं है; जैसे—'यथा सरणादित्तं वारिना परिनिब्बये।' सुत्तनिपात, ३।१९० । किन्तु द्वितीय अर्थ के लिए ही इसका अधिक प्रयोग उपलब्ध होता है। क्रमशः 'सरण' शब्द बौद्धों के उपास्य 'बुद्ध', 'धम्म' और 'संघ' इन तीन तत्त्वों के लिए रूढ़ हो गया है। ये तीन तत्त्व एक साथ 'त्रिशरण' या 'त्रिरतन' भी कहलाते हैं।

१९१—दुक्खं[1] दुक्खसमुप्पादं[2] दुक्खस्स च अतिक्कमं[3]।

१. 'दुक्ख' (सं० दुःख) चार आर्यसत्यों में प्रथम माना गया है। संसार का दुःखस्वरूप ज्ञान ही तत्त्वज्ञान का मूल है, दुःखवाद ही दर्शन चिन्ता का उद्भव स्थल है। जब मनुष्य जगत् को दुःखमय समझ लेता है तभी उस दुःख के मूल और उससे छुटकारा पाने के मार्ग के अन्वेषण में प्रवृत्त हो जाता है। यह सिद्धान्त शास्त्रों का भी सम्मत है, द्र० सांख्यकारिका, 'दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' आदि। जागतिक दुःख के स्वरूप तथा जगत् के दुःखमयत्व का विमर्श बौद्धशास्त्र में विस्तृत रूप से किया गया है। यथा '··· दुक्खं अरियसच्चं। जति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, व्याधि पि दुक्खो, मरणं पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यं पिच्छं न लभति तं पि दुक्खं। संखित्तेन, पञ्चुपादानक्खन्धा, दुक्खा।' महावग्ग (धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त), पृ० १३।

२. 'दुक्खसमुप्पाद' या 'दुक्खसमुदाय' दुःख के मूल कारण को कहा जाता है। बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार 'तण्हा' (अर्थात् तृष्णा या वासना) ही जन्म-जरादि दुःखों का मूलभूत कारण है। यह तत्त्व द्वितीय आर्य सत्य है। यथा— '···दुक्खसमुदयं अरियसच्चं—यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, सेय्यथीदं—कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा।' वहीं।

३. 'दुक्खस्स अतिक्कमं' अर्थात् दुःखनिरोध। दुःख की हेतु तण्हा के निरोध से जन्म जरादि दुःखों का निरोध हो जायगा यह तत्त्व तीसरा आर्य-सत्य माना जाता है। यथा, '········यो तस्सा येव तण्हाय असेसावरविराग-निरोधो, चागो, पठिनिस्सग्गो, मुक्ति, अनालयो।' वहीं।

अविद्या से कारणपरम्परया दुःखों का उद्भव व तज्जनित शोकादि-क्लेशभोग और अविद्या के निरोध से दुःखनिरोध (अर्थात् निर्वाण प्राप्ति) इस तत्त्व को बौद्ध शास्त्र में 'पटिच्चसमुप्पाद (प्रतीत्यसमुत्पाद) कहा गया है। पटिच्चसमुप्पाद दो प्रकार के हैं—अनुलोम (अर्थात् सीधे तौर पर) एवं पटिलोम (प्रतिलोम अर्थात् उल्टे तौर पर) जिनको क्रमशः अन्वयमुखी और व्यतिरेकमुखी भी कहा जा सकता है। अनुलोम पटिच्च-समुप्पाद का वर्णन 'उदान' नामक सत्र ग्रन्थ में निम्नलिखित रूप से किया गया है—"इति इमस्मि सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति,

अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं[1] दुक्खूपसमागमिनं ॥ १३ ॥
[दुःखं दुःखसमुत्पादं दुःखस्य चातिक्रमम् ।
आर्यमष्टाङ्गिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम् ॥ १३ ॥]

दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का विनाश तथा दुःख के विनाश की ओर ले जाने वाला अष्टांगिक मार्ग ।

१९२—एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ १४ ॥
[एतत् खलु शरणं क्षेमम् एतच्छरणमुत्तमम् ।
एतच्छरणमागम्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥ १४ ॥]

वास्तव में यह क्षेमकरी शरण है और उत्तम शरण है। इस शरण में आकर सब दुःखों से छूट जाता है ॥ १४ ॥

१९३—दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो न सो सब्बत्थ जायति ।
यत्थ सो जायति धीरो तं कुलं सुखमेधति ॥ १५ ॥
[दुर्लभः पुरुषाजानेयो न स सर्वत्र जायते ।
यत्र स जायते धीरस्तत्कुलं सुखमेधते ॥ १५ ॥]

यदिदं—अविज्जापच्चया सङ्खारा सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जाति उपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति ति'' (पृ० ६३), पटिलोम पटिच्चसमुप्पाद के लिए देखिए, वहीं पृ० ६४। यह बात तो स्पष्ट है कि यहाँ तृष्णा से पीछे जाकर अविद्या को ही दुःख का मूल कारण बताया गया है ।

१. दुःखों के निरोध के लिए बुद्धदेशित अष्टाङ्गिकमार्ग ही चौथा आर्यसत्य कहलाता है। उस मार्ग को मज्झिमा पटिपदा (मध्यममार्ग) भी कहा गया है क्योंकि उसमें अधिक विषयभोग तथा अधिक कृच्छ्रसाधन इन दो ही चरम-कोटियों का निषेध कर मध्यपन्था का उपदेश किया गया है। चतुर्थ आर्यसत्य का वर्णन शास्त्र में इस प्रकार से किया गया है-''...दुःखनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथीदं—सम्मादिट्ठि, सम्मा-

ज्ञानी पुरुष दुर्लभ है। वह सब जगह पैदा नहीं होता। जहाँ वह धैर्यशाली पैदा होता है, उस कुल में सुख की वृद्धि होती है ॥ १५ ॥

जेतवन संबहुलभिक्खु

१९४—सुखो बुद्धानमुप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा सङ्घस्य सामग्गी[1] समग्गानं तपो सुखो ॥ १६ ॥
[सुखो बुद्धानामुत्पादः सुखा सद्धर्मदेशना।
सुखा सङ्घस्य सामग्री समग्राणां तपः सुखम् ॥ १६ ॥]

प्रबुद्ध पुरुष का जन्म लेना सुखद है, सद्धर्म का उपदेश सुखद है, संघ की समग्रता सुखद है, समग्रतायुक्त पुरुषों का तप सुखद है।

सङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि।'

१. सामग्गी (सं० सामग्री) का अर्थ है संघ के अन्तर्भुक्त पुरुषों की 'समचित्तता'। धर्म की वृद्धि के लिए भिक्षुओं में सैनिकों की तरह अनुशासन (discipline) भगवान् बुद्ध को अभिप्रेत था। इसीलिए उन्होंने कहा— 'यावकीवं च भिक्खवे भिक्खू समग्गा सन्निपतिस्सन्ति, समग्गा वुट्ठहिस्सन्ति, समग्गा संघकरणीयानि करिस्सन्ति बुद्धियेव भिक्खवे भिक्खूनं पाटिकांखा नो परिहानि (दीघनिकाय, २।६२)। किसी भी लौकिक धर्म की उन्नति के लिए उस धर्म के अनुयायिवर्ग की समान भावना तथा समवेत रूप से धर्माचरण (समग्गानं तपो) विशेष महत्वपूर्ण है। आर्षशास्त्र में यही भावना कितने सुन्दर ढंग से बतायी गयी है—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

— ऋग्वेद संहिता, १।१९१।२-४ ॥

चारिकं चारमानो | कस्सपदसबलस्स
(अर्थात् भ्रमण करते हुए) | सुवण्णचेतियमारब्भ

१९५—पूजारहे पूजयतो बुद्धे यदि व सावके।
पपञ्चसमतिक्कन्ते तिण्णसोकपरिद्दवे ॥ १७ ॥
[पूजार्हान् पूजयतो बुद्धान् यदि वा श्रावकान्।
प्रपञ्चसमतिक्रान्तान् तीर्णशोकपरिद्रवान् ॥ १७ ॥]

जो पूजा के योग्य लोगों की, बुद्ध की या श्रावकों की, संसार के प्रपंचों से दूर हुओं तथा शोकसागर से पार जाने वालों की पूजा करते हैं ॥ १७ ॥

१९६—ते तादिसे पूजयतो निब्बुते अकुतोभये।
न सक्का पुञ्ञं सङ्खातुं इमेत्तमपि केनचि ॥ १८ ॥
[तान् तादृशान् पूजयतो निर्वृतान् अकुतोभयान्।
न शक्यं पुण्यं संख्यातुमियन्मात्रमपि केनचित् ॥ १८ ॥]

निर्वृत हुओं एवं निर्भीक बने हुओं की जो इस प्रकार पूजा करते हैं, कोई भी उनके पुण्य का थोड़ा भी वर्णन नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

—:०:—

सुखवग्गो पन्नरसमो

(सुखवर्गः पञ्चदशः)

सक्क देस ञातक (कलहवुपसमनत्थं

१९७—सुसुखं वत जीवाम वेरिनेसु अवेरिनो।
वेरिनेसु मनुस्सेसु विहराम अवेरिनो ॥ १ ॥
[सुसुखं बत जीवामो वैरिष्ववैरिणः।
वैरिषु मनुष्येषु विहरामोऽवैरिणः ॥ १ ॥]

शत्रुओं में अशत्रुता का व्यवहार करते हुए हम सुखपूर्वक जीवित रहें शत्रु मनुष्यों में हम अशत्रु बनकर रहें।

१९८—सुसुखं वत जीवाम आतुरेसु[1] अनातुरा।
आतुरेषु मनुस्सेसु विहराम अनातुरा ॥ २ ॥
[सुसुखं बत जीवामः आतुरेष्वनातुराः।
आतुरेषु मनुष्येषु विहरामोऽनातुराः ॥ २ ॥]

आतुरों में अनातुर का व्यवहार करते हुए, हम सुखपूर्वक जीवित रहें आतुर मनुष्यों में हम अनातुर बन कर रहें ॥ ३ ॥

---

१. यहाँ 'आतुर' शब्द का अर्थ है लोभ, दोष मोह, मान आदि क्लेशों से युक्त, साधारण व्याधियों से पीड़ित नहीं ('किलेसातुरेसु मनुस्सेसु'—बुद्धघोष) ऐसी अनातुर अवस्था महाभारत में भी दूसरे शब्दों में वर्णित है,

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रियौ।
भयाभयं च सन्त्यज्य संप्रशान्तो निरामयः ॥

—शान्तिपर्व २७६।१

महाभारतकार का सिद्धान्त यह है कि संसार में तृष्णा ही सबसे भारी व्याधि है। जैसे—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥ वहीं, १२

१९९—सुसुखं वत जीवाम उस्सुकेसु अनुस्सुका।
उस्सुकेसु मनुस्सेसु विहराम अनुस्सुका ॥ ३ ॥
[सुसुखं बत जीवामः उत्सुकेष्वनुत्सुकाः।
उत्सुकेषु मनुष्येषु विहरामोऽनुत्सुकाः ॥ ३ ॥]

उत्सुकों में अनुत्सुक का व्यवहार करते हुए हम सुखपूर्वक जीवित रहें। उत्सुक मनुष्यों में हम अनुत्सुक बन कर रहें ॥ ३ ॥

पञ्चसाला (ब्राह्मणगाम) मार

२००—सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चन[1]।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा[2] यथा ॥ ४ ॥
[सुसुखं बत जीवामः येषां नो नास्ति किंचन।
प्रीतिभक्षा भविष्यामः देवा आभास्वराः यथा ॥ ४ ॥]

हम लोग जिनका कुछ नहीं है, सुखपूर्वक जीवित रहें। आभास्वर देवों के समान हम प्रीतिभक्षण करने वाले बनें ॥ ४ ॥

जेतवन (विषयवस्तु) कोसलरञ्ञो पराजयो

२०१—जयं वेरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो।

---

१. तुलना कीजिए--

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥

—महाभारत, शान्तिपर्व; २७६।४

(फज़बोल द्वारा निर्देशित तथा पं० मैक्समूलर द्वारा उद्धृत)

२. आभस्सरा देवा (सं० आभास्वरा देवाः)। ब्रह्मलोक के अन्तर्गत एक प्रकार के देवता 'आभस्सर देव' कहलाते हैं। उन देवों के शरीर से ज्योति विस्फुरित होती है इसलिए वे 'आभस्सर' कहलाते हैं ('दण्डदीपिकाय अच्चि विय एतेसं सरीरतो आभा छिज्जित्वा छिज्जित्वा पतन्ती विय सरति विसरतीति आभस्सरा'—विभङ्गट्ठकथा, पृ० ५२८)। उन देवों के लिए स्थूल वस्तुओं का भोजन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती है, केवल आनंद (प्रीति) से उनकी प्राणरक्षा होती है, इसलिए वे 'पीतिभक्खा' भी कहलाते हैं। अपने पुण्य कर्मों के फल से मनुष्य आभस्सर देवलोक में उत्पन्न होते हैं, वहाँ से पुनः संसार में वे जन्म लेते हैं। साधारणतया वे दो कल्प परिमित समय देवशरीर में रहते

उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं[1] ॥ ५ ॥
[जयो वैरं प्रसूते दुःखं शेते पराजितः ।
उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयौ ॥ ५ ॥]

विजय शत्रुता को उत्पन्न करती है। पराजित हुआ मनुष्य दुःखी ह सोता है। विजय तथा पराजय को त्याग कर शान्त हुआ मनुष्य सुखपू सोता है ॥ ५ ॥

जेतवन अञ्ञतरा कुलदारि

२०२—नत्थि रागसमो अग्गि[2] नत्थि दोससमो कलि[3] ।

हैं। विस्तृत विवरण के लिए देखिए, Dictionary of Pali Proper Nam पहला भाग, पृ० २७८-८०।

१. अवदानशतक में इस गाथा का अविकल संस्कृत रूप उपलब्ध होता है

जयो वैरं प्रसवति दुःखं शेते पराजितः ।
उपशान्तः सुखं शेते हित्वा जयपराजयम् ॥

यह गाथा संयुक्तनिकाय (पहला भाग, पृ० ८३) में भी आती है। धम्म की और भी अनेक गाथाएँ त्रिपिटक के विभिन्न स्थलों में दिखाई पड़ती हैं, जि पता चलता है कि धम्मपद कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं हैं, अपितु त्रिपटक में उप नीति और धर्मविषयक सुभाषितों का संग्रहमात्र है।

२. तुलनीय—

नास्ति रागसमं दुःखम्.......। —महाभारत, शान्तिपर्व, १७५।

३. पं० मैक्समूलर 'कलि' शब्द का अर्थ जुए का भाग्यहीन पा (unlucky die) जिससे खिलाड़ी की पराजय होती है—बताते हैं। कि भारतीय व्याख्यान के अनुसार इस शब्द का अर्थ है पाप। बुद्धघोष इसका अ 'अपराध' बताते हैं जो सबसे अधिक प्रसङ्ग के अनुकूल मालूम पड़ता है। कि कलि शब्द का 'भाग्यहीन पासा' अर्थ पं० मैक्समूलर की कपोलकल्पना नहीं है इस अर्थ में कलि शब्द का प्राचीन प्रयोग वेदादि ग्रन्थों में भी है, जैसे—

'धृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे...।'—अथर्ववेदसंहिता, ७।१०।

[सायण भाष्य—पराजयहेतुः पञ्चसंख्यायुक्तोऽक्षविषयो यः कलिरित्यु

बाद में अर्थ के विवर्तन से इसके अर्थ 'अशुभसत्त्व', 'अशुभकार्य', 'पा 'पापबहुल युग' इत्यादि हो गये।

नत्थि खन्धादिसा[1] दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ॥ ६ ॥
[नास्ति रागसमोऽग्निर्नास्ति द्वेषसमः कलिः ।
न सन्तिस्कन्ध(स) दृशानि दुःखानि नास्ति शान्तिपरं सुखम् ॥६॥]

राग और समान अग्नि नहीं है । द्वेष के समान कलह नहीं है । शरीर धारण करने के समान दुःख नहीं है और शान्ति से बढ़कर सुख नहीं है ॥ ६ ॥

आळवी एक उपासक

२०३—जिघच्छा परमा[2] रोगा सङ्खारा[3] परमा दुखा ।

---

१. बौद्धशास्त्र में खन्ध (सं० स्कन्ध) विशेष महत्त्वपूर्ण शब्द है । यद्यपि पालि साहित्य में इस शब्द का 'कंधे' इत्यादि वाच्यार्थ में प्रयोग भी उपलब्ध होता है तब भी एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ के लिए ही इसका अधिक प्रयोग दिखाई पड़ता है । रूप, वेदना, सञ्ञा (सं० संज्ञा), संखार (सं संस्कार) और विञ्ञान (सं० विज्ञान) ये पाँच तत्त्व खंध (सं० स्कन्ध) कहलाते हैं । (देखिए, संयुक्तनिकाय, दूसरा भाग, पृ० २७८-२७९) ये 'पञ्च स्कन्ध' इकट्ठे होकर जन्म लेते हैं, पुनर्जन्म इन्हीं का होता है, अतः पञ्च स्कन्ध दुःख-स्वरूप कहलाते हैं । जगत् के वास्तव स्थूल पदार्थ (जैसे पृथ्वी, जल आदि, जिन्हें हिन्दू दर्शन-शास्त्र में भूत कहा गया है) रूपस्कन्ध के अन्तर्भुक्त हैं । इन्द्रियज अनुभव वेदना है । मानसिक अनुभव को संज्ञा, विषयसम्बन्धी बोध को संस्कार और चैतन्य को विज्ञान कहा जा सकता है । वस्तुतः वेदना, संज्ञा और संस्कार ये तीन स्कन्ध विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्भुक्त हैं और ये सब मिलाकर चेतसिक भूमि (mind) होती है । जागतिक अस्तित्व (अर्थात् जीवन) इस संयोग का नामान्तर है जैसे कि अक्ष, चक्के, रस्सि आदि अङ्गों के समुदाय की रथ संज्ञा होती है (यथा हि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति । एवं खन्धेसु सन्तेसु सत्तोति सम्मुति ॥ संयुक्तनिकाय पहला भाग पृ० १३५) पञ्चस्कन्ध के अलावा और कोई नित्य आत्मा बौद्ध-दर्शन को मान्य नहीं है, इसलिए बौद्ध-दर्शन मुख्यतः अनात्मवादी दर्शन है । पञ्चस्कन्ध अनात्म एवं अनित्य है (विस्तारित विवरण के लिए देखिए संयुक्तनिकाय दूसरा भाग पृ० २९५-२९६) ।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—जिघच्छापरमा ।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—सङ्खारपरमा । यद्यपि पञ्च स्कन्धों में चौथा

एतं ञत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं ॥ ७ ॥

[जिघृक्षा[1] परमो रोगः संस्काराः परमं दुःखम् ।

एतत् ज्ञात्वा यथाभूतं निर्वाणं परमं सुखम् ॥ ७ ॥]

संग्रह की प्रवृत्ति परम रोग है, संस्कार परम दुःख है। इसे यथार्थ रूप से जानकर निर्वाण परम सुख है—ऐसा मानो ॥ ७ ॥

जेतवन राजा पसेनदि कोसल

२०४—आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठिपरमं धनं ।

विस्सासपरमा ञाति निब्बान परमं[2] सुखं ॥

[आरोग्यं परमो लाभः सन्तुष्टिः परमं धनम् ।

विश्वासः परमो ज्ञातिः निर्वाणं परमं सुखम् ॥ ८ ॥]

आरोग्य परम लाभ है, सन्तुष्टि परम धन है, विश्वास परम ज्ञाति है तथा निर्वाण परम सुख है[3] ।

स्कन्ध भी सङ्खार (सं० संस्कार) कहलाता है, किन्तु भदन्त बुद्धघोष के व्याख्यानुसार यहाँ 'सङ्खार' का अर्थ पञ्चस्कन्ध ही है—स्कन्धविशेष नहीं ('सङ्खारा ति पञ्च खन्धा'—अट्ठकथा)। 'सङ्खार' शब्द का कई एक अर्थ में प्रयोग दिखाई पड़ता है (विस्तृत विवरण के लिए मैक्समूलर कृत संस्करण देखिए)।

१. फज़बोल, मैक्समूलर आदि विद्वानों के मतानुसार—'जिघच्छा' शब्द का मूल अर्थ है 'भोजन करने की इच्छा'। वैयाकरण कच्चायन घस धातु (भोजनार्थ, 'घस' अदनस्मि—धातुमञ्जूसा ७१) से इच्छार्थ (सं० सन्) प्रत्यय से 'जिघच्छति' पद सिद्ध करते हैं (सू० ३।२।३, ३।३।५, ३।३८)—जो पाश्चात्य विद्वानों के अनुमान को ही पुष्ट करता है।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—निब्बानपरमं ।

३. आरोग्य को परम लाभ, सन्तुष्टि को परम धन तथा विश्वास को परम ज्ञाति कहने का कारण भदन्त बुद्धघोष ने बहुत सुन्दर ढंग से बतलाया है। विशेषरूप से 'विस्सासपरमा ञातीति माता वा होतु पिता वा। येन सद्धिं विस्सासो नत्थि। सो अञ्ञातको व। येन अञ्ञातकेन परं सद्धिं विस्सासो अत्थि। सो असम्बन्धोपि परमो उत्तमो ञाति।' अतः यहाँ विश्वास शब्द का लाक्षणिक

वेसाली अञ्ञतर भिक्खु

२०५—पविवेकरसं पीत्वा[1] रसं उपसमस्स च।
निद्दरो होति निप्पापो धम्मपीतिरसं पिवं[2] ॥ ९ ॥
[प्रविवेकरसं पीत्वा रसमुपशमस्य च।
निर्दरो[3] भवति निष्पापो धर्मप्रीतिरसं पिबन् ॥ ९ ॥]

विवेक तथा शान्ति के रस के पीकर, धर्म के प्रीतिरस को पीता हुआ मनुष्य निर्भय और निष्पाप हो जाता है ॥ ९ ॥

बेळुवगाम सक्क

२०६—साधु[4] दस्सनमरियानं[5] सन्निवासो सदा सुखो।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया ॥ १० ॥
[साधु दर्शनमार्याणां सन्निवासः सदा सुखम्।
अदर्शनेन बालानां नित्यमेव सुखी स्यात् ॥ १० ॥]

आर्यों का दर्शन मंगलकारी है। उनके साथ निवास सदैव सुखद होता है। है। मूर्खों के न देखने से नित्य ही सुखी रहे।

२०७—बालसङ्गतचारी हि दीघमद्धान सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेव सब्बदा।
धीरो च सुखसंवादो ञातीनं व समागमो ॥ ११ ॥
[बालसङ्गतचारी हि दीर्घमध्वानं शोचति।

अर्थ है 'विश्वास के पात्र'। इस व्याख्यान को ध्यान में रखते हुए चाईल्डार्स ने इस अंश के अनुवाद में लिखा—The best kinsmen is a man you can trust' (पं० मैक्समूलर द्वारा उद्धृत)।

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर 'पित्वा' अधिक भाषाविज्ञान-सम्मत है। 'पीत्वा' पाठ प्राकृत भाषाओं में संयुक्त वर्ण के पूर्व स्वर का ह्रस्व होने की (दे० 'ह्रस्वः संयोगे', हेमचन्द्र, १।८४) साधारण विधि का विरोधी है।

२. यह गाथा सुत्तनिपात (२।४१) में भी आती है।

३. 'दर' शब्द का 'भय' अर्थ संस्कृत कोष में प्रसिद्ध है, जैसे—'दरत्रासौ भीतिर्भीः साध्वसं भयम् (अमरकोश, १।७।२१)'।

४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—साहु।

५. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—०मरियं।

दु:खो बालैः संवासः अमित्रेणेव सर्वदा।
धीरश्च सुखसंवासः ज्ञातीनामिव समागमः ॥ ११ ॥]

मूर्ख की संगति में चलने वाला मार्ग में बहुत दु:खी होता है। मूर्खों के साथ निवास करना सदैव दु:खद होता है जैसे कि शत्रु के साथ रहना (दु:खद होता) है। धैर्यशाली के साथ निवास करना सुखद होता है जैसे कि जाति वालों का समागम सुखद होता है ॥ ११ ॥

२०८—तस्माहि—

धीरं च पञ्ञं च बहुस्सुतं च धोरय्हसीलं वतवन्तमारियं।
तं तादिसं सप्पुरिसं सुमेधं भजेथ नक्खत्तपथं चन्दिमा ॥१२॥
[धीरञ्च प्राज्ञञ्च बहुश्रुतञ्च धौरेयशीलं व्रतवन्तमार्यम्।
तं तादृशं सत्पुरुषं सुमेधं भजेत नक्षत्रपथमिव चन्द्रमाः ॥ १२ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्र-पथ का अनुगमन करता है, उसी प्रकार मनुष्य धैर्यशाली, प्राज्ञ, विद्वान्, कर्मठ, व्रतवान्, आर्य तथा मेधाशाली सत्पुरुष का अनुगमन करे।

—:०:—

पियवग्गो सोळसमो

[प्रियवर्गः षोडशः]

जेतवन तयो पब्बजिता

२०९—अयोगे[1] युञ्जमत्तानं योगस्मिं च अयोजयं।
अत्थं हित्वा पिय[2]ग्गाही पिहेतत्तानुयोगिनं ॥ १ ॥

[अयोगे युञ्जन्नात्मानं योगे चायोजयन्।
अर्थं हित्वा प्रियग्राही स्पृहयेदात्मानुयोगिनम् ॥ १ ॥]

अयोग्य में अपने को लगाता हुआ, तथा योग्य में अपने को न लगाता हुआ, अर्थ को त्यागकर प्रिय विषयों का ग्राही होता है, वह योग्य मार्ग पर चलने वाले से ईर्ष्या करता है ॥ १ ॥

२१०—मा पियेहि समागञ्छि[3] अप्पियेहि कुदाचनं।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानं च दस्सनं ॥ २ ॥

[मा प्रियैः समागमत् अप्रियैः कदाचन।
प्रियाणामदर्शनं दुःखम् अप्रियाणां च दर्शनम् ॥ २ ॥]

प्रियों के साथ मत जाओ, अप्रियों के साथ भी मत जाओ। प्रियों का न दिखना दुःखद है तथा अप्रियों का दिखना दुःखद है ॥ २ ॥

---

१. यहाँ 'अयोग्य' का अर्थ है अकरणीय अर्थात् बुरा कर्म। भदन्त बुद्धघोष ने इस पद के व्याख्यान में विशेष शास्त्रीय पारिभाषिक अर्थ बतलाते हुए कहा है—"तत्थ अयोगे ति अयुञ्जितब्बे अयोनिसोमनसिकारे। वेसियागोचरादि-भेदस्स हि छब्बिधस्स अगोचरस्स सेवनं इध अयोनिसोमनसिकारो नाम .....।"

२. भदन्त बुद्धघोष के व्याख्यान के अनुसार यहाँ 'पिय (अर्थात् प्रिय)' का अर्थ है 'पञ्च कामगुण'।

३. 'समागञ्छि' पद की सिद्धि कच्चायन व्याकरण के अनुसार दुर्घट है। परवर्ती वैयाकरण मोग्गल्लान ने इस पद की सिद्धि 'ङसस्स च ञ्छङ (६।३०)' इस विशेष सुत्र द्वारा की है।

२११—तस्मा पियं न कयिराथ पियापायो हि पापको।
गन्था तेसं न विज्जन्ति येसं नत्थि पियाप्पियं ॥ ३ ॥]
[तस्मात् प्रियं न कुर्यात् प्रियापायो हि पापकः।
ग्रन्थयो तेषां न विद्यन्ते येषां नास्ति प्रियाप्रियम् ॥ ३ ॥

इस कारण से प्रिय मत बनाओ। प्रिय का दूर होना कष्टकारी है। जिन के प्रिय तथा अप्रिय नहीं हैं उनके बन्धन नहीं होते ॥ ३ ॥

जेतवन — अञ्ञतर कुटुम्बिक

२१२—पियतो जायती सोको पियतो जायती भयं।
पियतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ४ ॥
[प्रियतो जायते शोकः प्रियतो जायते भयम्।
प्रियतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥ ४ ॥]

प्रिय से शोक उत्पन्न होता है। प्रिय से भय उत्पन्न होता है। प्रिय से मुक्त हुए को शोक नहीं होता, भय की तो बात ही क्या ?

जेतवन — विसाखा उपासिका

२१३—पेमतो जायती सोको पेमतो जायती भयं।
पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ५ ॥
[प्रेमतो जायते शोकः प्रेमतो जायते भयम्।
प्रेमतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥ ५ ॥]

प्रेम से शोक उत्पन्न होता है। प्रेम से भय उत्पन्न होता है। प्रेम से मुक्त हुए को शोक नहीं होता भय की तो बात ही क्या ?

कुटागारासाला — लिच्छवि (लिच्छवियों के बारे में)

२१४—रतिया जायती सोको रतिया जायती भयं।
रतिया विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ६ ॥
[रत्याः जायते शोकः रत्याः जायते भयम्।
रत्या विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥ ६ ॥]

आसक्ति से शोक उत्पन्न होता है। आसक्ति से भय उत्पन्न होता है। आसक्ति से मुक्त हुए को शोक नहीं होता, भय की तो ही क्या ?

जेतवन — अनित्थिगन्धकुमार

२१५—कामतो जायती सोको कामतो जायती भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ७ ॥

[कामतो जायते शोकः कामतो जायते भयम् ।
कामतो विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥ ७ ॥]

काम से शोक उत्पन्न होता है । काम से भय उत्पन्न होता है । काम से मुक्त हुए को शोक नहीं होता, भय की तो बात ही क्या ?

जेतवन — अञ्ञतर ब्राह्मण

२१६—तण्हाय जायती सोको तण्हाय जायती भयं ।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं ॥ ८ ॥
[तृष्णया जायते शोकः तृष्णया जायते भयम् ।
तृष्णया विप्रमुक्तस्य नास्ति शोकः कुतो भयम् ॥ ८ ॥]

तृष्णा से शोक उत्पन्न होता है । तृष्णा से भय उत्पन्न होता है । तृष्णा से मुक्त हुए को शोक नहीं होता, भय की तो बात ही क्या ?

वेळुवन — पञ्चसत दारक

२१७—सीलदस्सन[1]सम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चवादिनं ।
अत्तनो कम्म कुब्बानं तं जनो कुरुते पियं ॥ ९ ॥
[शीलदर्शनसम्पन्नं धर्मिष्ठं सत्यवादिनम् ।
आत्मनः कर्म कुर्वाणं तं जनः कुरुते प्रियम् ॥ ९ ॥]

जो शील तथा ज्ञान से युक्त है, जो धर्मिष्ठ है, सत्यवादी है, जो अपना कार्य करने वाला है, उसे लोग प्रिय बनाते हैं ॥ ९ ॥

जेतवन — एक अनागामि थेर

२१८—छन्दजातो अनक्खाते[2] मनसा च फुटो सिया ।
कामेसु च अप्पटिबद्धचित्तो उद्धंसोतोति[3] वुच्चति ॥ १० ॥

---

१. यहां 'दस्सन' शब्द का अर्थ है तात्त्विक विषयों में ठीक ठीक विचार करने का सामर्थ्य —'मग्गफलसम्पयुत्तेन सम्मादस्सनेन च सम्पन्नं (अट्ठकथा)'।

२. अनक्खाते (अनाख्याते) का अर्थ ही है 'वाचिक व्याख्यान के अतीत विषय'। निब्बान ही वैसा विषय है। जैसा कि उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व 'अवाङ्मनसगोचर' कहलाता है।

३. उद्धंसोतो (सं० ऊर्ध्वंस्रोतस्) का मूल अर्थ है—स्रोत या प्रवाह के प्रतिकूल तैरने वाला। बौद्धशास्त्र में इस शब्द का विशेष पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग मिलता है। ऐसा भिक्खु 'उद्धंसोत' कहलाता है जो 'अविह' नामक लोक

[छन्दजातोऽनाख्याते मनसा च स्फुटः स्यात् ।
कामेषु चाप्रतिबद्धचित्तो ऊर्ध्वस्रोता इत्युच्यते ॥ १० ॥]

अवर्णनीय के प्रति जिसकी इच्छा उत्पन्न हो गई है, जो मन में स्पष्ट हो गया है, जिसका चित्त कामनाओं में बँधा नहीं है, वह ऊर्ध्वस्रोता है--ऐसा कहा जाता है ॥ १० ॥

इसिपतन नन्दिय

२११—चिरप्पवासिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं ।
ञातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥ ११ ॥
[चिरप्रवासिनं पुरुषं दूरतः स्वस्थमागतम् ।
ज्ञातिमित्राणि सुहृदः चाभिनन्दन्त्यागतम् ॥ ११ ॥]

दूर से कुशलता पूर्वक आये हुए बहुत दिनों तक प्रवास में रहने वाले पुरुष का ज्ञाति वाले, मित्र एवं सुहृद् वर्ग अभिनन्दन करते हैं ॥ ११ ॥

२२०—तथेव कतपुञ्ञं पि अस्मा लोका परं गतं ।
पुञ्ञानि पटिगण्हन्ति पियं ञाती व आगतं ॥ १२ ॥
[तथैव कृतपुण्यमपि अस्माल्लोकात् परं गतम् ।
पुण्यानि प्रतिगृह्णन्ति प्रियं ज्ञातिरिवागतम् ॥ १२ ॥]

उसी प्रकार इस लोक से परलोक को गये हुए पुण्यवान् पुरुष का भी आये हुए प्रिय ज्ञाति भाई के समान पुण्य कर्म स्वागत करते हैं ॥ १२ ॥

--:०:--

में उत्पन्न हो 'अकनिट्ठ' देवलोक की ओर अग्रसर होता है (उद्धंसोतो ति एवं रूपो भिक्खु अविहेसु निब्बत्तित्वा ततो पट्ठाय पटिसन्धिवसेन अकनिट्ठं गच्छन्तो उद्धंसोतो ति वुच्चति--अट्ठकथा) ।

क्रोधवग्गो सत्तरसमो

(क्रोधवर्गः सप्तदशः)

निग्रोधाराम | रोहिणी खत्तियकञ्ञा

२२१—क्रोधं जहे विप्पजहेय्य मानं
संयोजनं सब्बमतिक्कमेय्य ।
तं नामरूपस्मि[1] असज्जमानं
अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा ॥ १ ॥
[क्रोधं जहीत विप्रजह्यात् मानं
संयोजनं सर्वमतिक्रमध्वम् ।
तं नामरूपयोरसज्यमानम्
अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुःखानि ॥ १ ॥]

क्रोध को त्याग दो, मान को त्याग दो, सब बन्धनों का अतिक्रम कर दो। नाम और रूप में अनासक्त रहने वाले उस अकिञ्चन पर दुःख नहीं आते हैं ॥१॥

अग्गालव चेतिय | अञ्ञतर भिक्खु

२२२—यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं च धारये[2] ।
तमहं सारथिं ब्रूहि रस्मिग्गाहो इतरो जनो ॥ २ ॥
[यो वै उत्पतितं क्रोधं रथं भ्रान्तमिव धारयेत् ।
तमहं सारथिं ब्रवीमि रश्मिग्राहः इतरो जनः ॥ २ ॥]

जो उठे हुए क्रोध को, भ्रान्त हुए रथ के समान रोक लेता है, उसे मैं सारथी कहता हूँ। दूसरे जन तो लगाम पकड़ने वाले हैं ॥ २ ॥

---

१. नामरूपप्रत्यय को जागतिक अस्तित्व का अन्यतम कारण अर्थात् एक निदान कहा जाता है। विज्ञान प्रत्यय से नामरूप-प्रत्यय उत्पन्न होता है और नामरूप-प्रत्यय से छह आयतन उत्पन्न होते हैं (दे० उदान, पृ० १)।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—वारये। 'धारये' पाठ ही टीकाकार के सम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने अर्थ बतलाते हुए कहा है—'धारये (ब्रह्मदेशीय पाठ में वारये) निग्गण्हितुं सक्कोति'।

वेळुवन उत्तरा उपासिका

२२३—अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने ।
जिने कदरियं दानेन सच्चेनालीकवादिनं[1] ॥ ३ ॥
[अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनालीकवादिनम् ॥ ३ ॥]

अक्रोध से क्रोध को जीते । साधुता से असाधु को जीते । दान से कृपण को तथा सत्य से झूठ बोलने वाले को जीते ॥ ३ ॥

जेतवन महामोग्गल्लान थेर

२२४—सच्चं भणे न कुज्झेय्य दज्जा अप्पस्पि[2] याचितो ।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके ॥ ४ ॥
[सत्यं भणेन्न क्रुध्येत् दद्यादल्पमपि याचितः ।
एतैः त्रिभिः स्थानैः गच्छेत् देवानामन्तिके ॥ ४ ॥]

सत्य बोले । क्रोध न करे । माँगे जाने पर थोड़ा भी देवे । इन तीन स्थानों से देवताओं के समीप जावे ॥ ४ ॥

अञ्जनवन खिक्खूहि पुट्ठपञ्हं आरब्भ

२२५—अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवुता ।
ते यन्ति अच्चुतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे ॥ ५ ॥
[अहिंसका ये मुनयो नित्यं कायेन संवृताः ।
ते यन्त्यच्युतं स्थानं यत्र गत्वा च शोचन्ते ॥ ५ ॥]

---

१. महाभारत में निम्नलिखित श्लोक मिलता है जो प्रस्तुत गाथा के साथ अक्षरशः मिलता जुलता है—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥—उद्योगपर्व, ३९।७२॥

[फज़बोल तथा मैक्समूलर इस श्लोक का आकर निर्देश महाभारत, १२।३५।५० ऐसा कहते हैं, लेकिन महाभारत के शान्तिपर्व में वह श्लोक हमें मिला नहीं ।]

'सच्चेन अलीकवादिनं' ऐसा विच्छिन्न पाठ सिंहलदेशीय संस्करण में मिलता है, जिससे छन्दोभङ्ग दोष पड़ जाता है ।

२. सिंहळदेशीय पाठान्तर—दज्जाप्पस्मिम्पि ।

जो अहिंसा-व्रतधारी तथा सदैव शरीर से संयत रहनेवाले मुनि हैं, वे पतन न होने वाले स्थान को जाते हैं, जहाँ जाकर मनुष्य शोक नहीं करता।

गिज्झकूट पुण्णा [राजगहसेट्ठिनो दासी]

२२६—सदा जागरमानानं अहोरत्तानुसिक्खिनं।
निब्बानं अधिमुत्तानं अत्थं गच्छन्ति आसवा॥ ६॥

[सदा जाग्रताम् अहोरात्रमनुशिक्षिणाम्।
निर्वाणमधिमुक्तानाम् अस्तं गच्छन्त्यास्रवाः॥ ६॥]

सदैव जाग्रत रहने वाले, दिन रात शिक्षित होने वाले तथा निर्वाण के प्रति प्रयत्न करने वाले मनुष्यों के चित्त के मल नष्ट हो जाते हैं॥ ६॥

जेतवन अतुल उपासक

२२७—पोराणमेतं अतुल नेतं अज्जतनामिव।
निन्दन्ति तुण्ही[१]मासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनं॥
मितभाणिं पि निन्दन्ति नत्थि लोके अनिन्दिता॥ ७॥

[पुराणमेतद् अतुल ! नैतदद्यतनमिव।
निन्दन्ति तूष्णीमासीनं निन्दन्ति बहुभाणिनम्॥
मितभाणिनमपि निन्दन्ति नास्ति लोकेऽनिन्दितः॥ ७॥]

हे अतुल ! यह पुरानी बात है। यह आज के समान नहीं है। शान्त बैठने वाले की लोग निन्दा करते हैं और बहुत बोलने वाले की लोग निन्दा करते हैं। कम बोलने वाले को भी लोग निन्दा करते हैं। संसार में कोई ऐसा नहीं जो अनिन्दित हो॥ ७॥

२२८—न चाहु न च भविस्सति न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो एकन्तं वा पसंसितो॥ ८॥

[न चाभूत् न च भविष्यति न चैवात्र विद्यते।
एकान्तं निन्दितः पुरुषः एकान्तं वा प्रशंसितः॥ ८॥]

ऐसा मनुष्य न हुआ है, न होगा और न यहाँ विद्यमान है, जो बिल्कुल निन्दित हो या बिल्कुल प्रशंसित हो॥ ८॥

२२९—यं चे विञ्ञू पसंसन्ति अनुविच्च सुवे सुवे।
अछिद्दवुत्ति मेधाविं पञ्ञा सीलसमाहितं॥ ९॥

---

१. स्यामदेशीय पाठान्तर—तुण्ही।

[यं चेत् विज्ञाः प्रशंसन्ति अनुविच्य श्वः श्वः
अच्छिन्नवृत्तिं मेधाविनं प्रज्ञाशीलसमाहितम् ॥ ९ ॥]

जिस अविचलित चरित्र वाले, मेधावी तथा प्रज्ञा और शील से युक्त मनुष्य की प्रतिदिन विचार करके विज्ञ लोग प्रशंसा करते हैं ॥ ९ ॥

२३०—नेक्खं[1] जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहति।
देवा पि तं पसंसन्ति ब्रह्मुना पि पसंसितो ॥ १० ॥

[निष्कं जम्बूनदस्येव कस्तं निन्दितुमर्हति।
देवा अपि तं प्रशंसन्ति ब्रह्मणापि प्रशंसितः ॥ १० ॥]

सुवर्ण की मुद्रा के समान उसकी कौन निन्दा कर सकता है ? देवता भी उसकी प्रशंसा करते हैं तथा वह ब्रह्मा से भी प्रशंसित है ॥ १० ॥

वेळुवन छब्बग्गिय भिक्खु

२३१—कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे ॥ ११ ॥
[कायप्रकोपं रक्षेत् कायेन संवृतः स्यात्।
कायदुश्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरेत् ॥ ११ ॥]

शरीर के क्रोध की रक्षा करे, वाणी से संयत रहे, वाणी के दुश्चरित्र को त्याग कर, शरीर से अच्छे चरित्र का आचरण करे ॥ ११ ॥

२३२—वचोपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया।
वचोदुच्चरितं हित्वा वाचाय सुचरितं चरे ॥ १२ ॥
[वचःप्रकोपं रक्षेत् वाचा संवृतः स्यात्।
वचोदुश्चरितं हित्वा वाचा सुचरितं चरेत् ॥ १२ ॥]

वाणी के क्रोध की रक्षा करे, वाणी से संयत रहे, वाणी के दुश्चरित्र को त्याग कर, वाणी से अच्छे चरित्र का आचरण करे ॥ १२ ॥

२३३—मनोपकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया।
मनोदुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे ॥ १३ ॥
[मनःप्रकोपं रक्षेत् मनसा संवृतः स्यात्।
मनोदुश्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरेत् ॥ १३ ॥]

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—निक्खं।

मन के क्रोध की रक्षा करे, मन से संयत रहे, मन के दुश्चरित्र को त्यागकर, मन से अच्छे चरित्र का आचरण करे ॥ १३ ॥

२३४—कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता ।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता ॥ १४ ॥
[कायेन संवृताः धीराः अथ वाचा संवृताः ।
मनसा संवृता धीराः ते वै सुपरिसंवृताः ॥ १४ ॥]

जो धैर्यशाली शरीर से संयत हैं, वाणी से संयत हैं तथा मन से संयत हैं, वे वास्तव में सुसंयत हैं ॥ १४ ॥

—:०:—

मलवग्गो अट्ठारसमो

(मलवर्गोऽष्टादशः)

जेतवन गोघातकपुत्त

२३५—पण्डुपलासो व दानिसि
यमपुरिसा पि च तं[1] उपट्ठिता।
उय्योगमुखे च तिट्ठसि
पाथेय्यं पि च ते न विज्जति ॥ १ ॥

[पाण्डुपलाश इवेदानीमसि
यमपुरुषोऽपि च त्वामुपस्थितः।
उद्योगमुखे च तिष्ठसि
पाथेयमपि च ते न विद्यते ॥ १ ॥]

अब तुम पीले पत्ते के समान हो। तुम्हारे पास यमराज के दूत भी उपस्थित हो गये हैं। तुम वियोग के मुख पर खड़े हो। पर तुम्हारे पास पाथेय भी नहीं है ॥ १ ॥

२३६—सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो दिब्बं अरियभूमिमेहिसि[2] ॥ २ ॥
[स कुरु द्वीपमात्मनः क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव।
निर्धूतमलोऽनञ्जनो दिव्यमार्यभूमिमेष्यसि ॥ २ ॥]

तुम अपने को एक द्वीप बना लो, शीघ्र ही अभ्यास करो, पण्डित बन जाओ। धुले हुए मल वाले और निष्पाप हुए तुम दिव्य आर्य भूमि में जाओगे।२।

२३७—उपनीतवयो च दानिसि
संपयातोसि यमस्स सन्तिके।

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—ते।

२.—ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—अरिय भूमिं उपेहिसि।

वासो पि च[1] ते नत्थि अन्तरा
पाथेय्यं पि च ते न विज्जति ॥ ३ ॥
[उपनीतवयाश्चेदानीमसि
सम्प्रयातोऽसि यमस्यान्तिकम् ।
वासोऽपि च ते न नास्त्यन्तरा
पाथेयमपि च ते न विद्यते ॥ ३ ॥]

तुम्हारी आयु अब समाप्त हो चुकी है। तुम यम के पास पहुँच गये हो। बीच में तुम्हारा निवास स्थान भी नहीं है और तुम्हारे पास पाथेय भी नहीं है ॥ ३ ॥

२३८—सो करोहि दीपमत्तनो खिप्पं वायम पण्डितो भव ।
निद्धन्तमलो अनङ्गणो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥ ४ ॥
[स कुरु द्वीपमात्मनः क्षिप्रं व्यायच्छस्व पण्डितो भव ।
निर्धूतमलोऽनञ्जनो न पुनः जातिजरे उपैष्यसि ॥ ४ ॥]

तुम अपने को एक द्वीप बना लो। शीघ्र ही अभ्यास करो, पण्डित बन जाओ। धुले हुए मल वाले और निष्पाप हुए तुम जन्म और जरा को फिर से प्राप्त न होओगे ॥ ४ ॥

जेतवन अञ्ञतर ब्राह्मण

२३९—अनुपुब्बेन मेधावी थोकथोकं[2] खणे खणे ।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो ॥ ५ ॥
[अनुपूर्वेण मेधावी स्तोकं स्तोकं क्षणे क्षणे ।
कर्मारो रजतस्येव निर्धमेन्मलमात्मनः ॥ ५ ॥]

जिस प्रकार सुनार चांदी के मैल को क्षण क्षण क्रमशः थोड़ा थोड़ा करके जलाता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष क्रमशः क्षण क्षण थोड़ा थोड़ा करके अपने मल को दूर करे ।

जेतवन तिस्स थेर

२४०—अयसा व मल समुट्ठितं ततुट्ठाय[3] तमेव खादति ।

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठ में 'पि च' ये दो पद नहीं हैं ।
२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—थोकं थोकं ।
३. सिंहलदेशीय पाठान्तर—तदुट्ठाय ।

एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि[1] नयन्ति दुग्गतिं ॥ ६ ॥
[अयस इव मलं समुत्थितं
तत उत्थाय तदेव खादति।
एवम् अतिधावनचारिणं
स्वानि कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम् ॥ ६ ॥]

जिस प्रकार लोहे से निकला हुआ मैल, उससे निकल कर उसी को खा जाता है, इसी प्रकार सदाचार का अतिक्रमण करने वाले को स्वयं के कर्म दुर्गति को ले जाते हैं ॥ ६ ॥

जेतवन — लालुदायि थेर

२४१—असज्झायमला मन्ता अनुट्ठानमला धरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं ॥ ७ ॥
[अस्वाध्यायमला मंत्रा अनुत्थानमला गृहाः।
मलं वर्णस्य कौसीद्यं प्रमादो रक्षतो मलम् ॥ ७ ॥]

स्वाध्याय न करना मंत्रों का मैल है, मरम्मत न करना घर का मैल है, आलस्य वर्ण का मैल है और प्रमाद रक्षक का मैल है ॥ ७ ॥

वेळुवन — अञ्ञतर कुलपुत्त

२४२—मलित्थिया दुच्चरितं मच्छेरं ददतो मलं।
मला वे पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च ॥ ८ ॥
[मलं स्त्रिया दुश्चरितं मत्सरं ददतो मलं।
मलं वै पापका धर्मा अस्मिन् लोके परस्मिन् च ॥ ८ ॥]

स्त्री का मैल दुराचार है, दानी का मैल मत्सर है और इस लोक में तथा परलोक में पाप कर्म मैल है ॥ ८ ॥

२४३—ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं।
एतं मलं पहत्वान निम्मला होत भिक्खवो ॥ ९ ॥
[ततो मलात् मलतरम् अविद्या परमं मलम्।
एतन्मलं प्रहाय निर्मला भवत भिक्षवः ॥ ९ ॥

इस सब से बढ़कर अविद्या परम मैल है। हे भिक्षुओ ! इस मल को त्याग कर निर्मल बनो ॥ ९ ॥

---

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—सककम्मानि।

चुल्लसारि

जेतवन

२४४—सुजीवं अहिरोकेन काकसूरेन धंसिना।
पक्खंदिना पगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं ॥ १० ॥
[सुजीवन् अह्रीकेण काकशूरेण ध्वंसिना।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन संक्लिष्टेन जीवितम् ॥ १० ॥]

निर्लज्ज, कौए के समान शूर, दूसरे का अहित करने वाले, पतित, प्रगल्भ और पापी का जीवन सुख से बीतता है ॥ १० ॥

२४५—हिरीमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना।
अलीनेनाप्पगब्भेन सुद्धाजीवेन पस्सता ॥ ११ ॥
[ह्रीमता च दुर्जीवितं नित्यं शुचिगवेषिणा।
अलीनेनाऽप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन पश्यता ॥ ११ ॥

लज्जावान्, नित्य पवित्रता की खोज करने वाला, आलस्य-विहीन, मित-भाषी, शुद्ध जीविका वाले, ज्ञानी पुरुष का जीवन कठिनाई से बीतता है ॥११॥

२४६—यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति।
लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति ॥ १२ ॥
[यः प्राणमतिपातयति मृषावादञ्च भाषते।
लोकेऽदमादत्ते परदारांश्च गच्छति ॥ १२ ॥]

जो प्राणियों को हिंसा करता है, झूठ बोलता है, लोक में न दी गई वस्तु को ले लेता है, तथा परस्त्रीगमन करता है ॥१२॥

२४७—सुरामेरयपानं न यो नरो अनुयुञ्जति।
इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खणति अत्तनो ॥ १३ ॥
[सुरामैरेयपानञ्च यो नरोऽनुयुनक्ति।
इहैवमेष लोके मूलं खनत्यात्मनः ॥ १३ ॥]

जो मनुष्य मद्यपान में लग्न होता है, वह यहीं लोक में अपनी जड़ को खोदता है ॥ १३ ॥

२४८—एवं भो पुरिस जानाहि पापधम्मा असञ्ञता।
मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुःखाय रन्धयुं ॥ १४ ॥
[एवं भो पुरुष ! जानीहि पापधर्मा असंयताः।
मा त्वां लोभाऽधर्मश्च चिरं दुःखाय रन्धतु ॥ १४ ॥]

हे पुरुष ! संयम रहित लोग इस प्रकार पाप करनेवाले होते हैं—यह जान लो। तुम्हें लोभ और अधर्म चिरकाल तक दुःख में न जलाते रहें ॥ १४॥

जेतवन

तिस्सदहर

२४९—ददाति वे यथासद्धं यथापसादनं जनो।
तत्थ यो मङ्कु भवति[1] परेसं पानभोजने।
न सो दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥ १५ ॥

[ददाति वै यथाश्रद्धं यथा प्रसादनं जनः।
तत्र यो मूको भवति परेषां पानभोजने।
न स दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥ १५ ॥]

मनुष्य अपनी श्रद्धा और प्रसन्नता के अनुसार दान देता है। वहाँ जो दूसरों के खान पान में मूक बना रहता है, वह दिन या रात कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं करता ॥ १५ ॥

२५०—यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहतं।
स वे दिवा वा रत्तिं वा समाधिं अधिगच्छति ॥ १६ ॥
[यस्य चैतत् समुच्छिन्नं मूलघात्यं समुद्धतम्।
स वै दिवा वा रात्रौ वा समाधिमधिगच्छति ॥ १६ ॥]

और जिसके यह विचार नष्ट हो गए हैं तथा जड़ से उखाड़ दिए गये हैं, वह दिन में या रात में शान्ति को प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

जेतवन

पञ्च उपासक

२५१—नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो गहो।
नत्थि मोहसमं जालं नत्थि तण्हासमा नदी ॥ १७ ॥
[नास्ति रागसमोऽग्निः नास्ति द्वेषसमो ग्रहः।
नास्ति मोहसमं जालं नास्ति तृष्णासमा नदी ॥ १७ ॥]

राग के समान अग्नि नहीं है, द्वेष के समान ग्रह नहीं है, मोह के समान जाल नहीं है और तृष्णा के समान नदी नहीं है ॥ १७ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—तत्थ यो च मङ्कु होति। सिंहलदेशीय पाठान्तर—तत्थ यो मङ्कुभावं वा। नालन्दा संस्करण धृत सिंहलदेशीय पाठान्तर-तस्य चे मङ्कु यो होति। स्यामदेशीय पाठान्तर-तत्थ यो मंकुतो होति।

जातियावन [भद्दियनगर] मेण्डकसेट्ठि

२५२—सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं सो हि वज्जानि ओपुणाति[1] यथा भुसं।
अत्तनो पन छादेति कलिं व कितवा सठो॥ १८॥
[सुदर्शं वद्यमन्येषाम् आत्मनः पुनर्दुर्दशम्।
परेषां स हि वद्यानि अवपुनाति यथा बुसम्।
आत्मनः पुनः छादयति कलिमिव कितवात् शठः॥ १८॥]

दूसरों के दोष देखना सरल है, किन्तु अपने दोष देखना कठिन है। वह दूसरों के दोषों को भूसा की तरह फैलाता है, परन्तु अपने दोषों को वैसे ही छुपाता रहता है जैसे शठ जुआरी के पांसे को छुपाता है॥ १८॥

जेतवन उज्झानसञ्ञि थेर

२५३—परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा सो आसवक्खया॥ १९॥
[परवद्याऽनुपश्यतो नित्यमुद्ध्यानसञ्ज्ञिनः।
आसवास्तस्य वर्द्धन्ते आरात् स आसवक्षयात्॥ १९॥]

दूसरों के दोषों को देखनेवाले और सदैव दूसरों से चिढ़ने वाले मनुष्य के चित्त के मैल बढ़ जाते हैं। वह चित्त के मैलों के विनाश से दूर हटा हुआ है॥१॥

कुसिनारा सुभद्द परिब्बाजक

२५४—आकासेव पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
पपञ्चाभिरता पजा निप्पपञ्चा तथागता॥ २०॥
[आकाशे इव पदं नास्ति श्रमणो नास्ति बाह्यतः।
प्रपञ्चाभिरताः प्रजाः निष्प्रपञ्चास्तथागताः॥ २०॥]

आकाश में मार्ग नहीं है, बाहर के कर्मों से मनुष्य श्रमण नहीं बनता। सामान्य प्रजाजन सांसारिक प्रपंचों में लगे हुए हैं, किन्तु तथागत बुद्ध इन प्रपञ्चों से दूर हैं॥ २०॥

२५५—आकासेव पदं नत्थि समणो नत्थि बाहिरे।
सङ्खारा सस्सता नत्थि, नत्थि बुद्धानमिञ्जितं॥ २१॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—ओपुनाति।

[आकाशे इव पदं नास्ति श्रमणो नास्ति बाह्यतः।
संस्काराः शाश्वता न सन्ति नास्ति बुद्धानामिङ्गितम् ॥ २१ ॥]

आकाश में मार्ग नहीं है, बाहर के कर्मों से मनुष्य श्रमण नहीं बनता। संस्कार सदैव रहने वाले नहीं हैं और बुद्धों में अस्थिरता नहीं है ॥ २१ ॥

●

धम्मट्ठवग्गो एकूनवीसतिमो

[धर्मिष्ठवर्ग एकोनविंशः]

जेतवन — विनिच्छय महामत्त

२५६—न तेन होति धम्मट्ठो येनत्थं सहसा[1]नये ।
यो च अत्थं अनत्थं च उभो निच्छेय्य पण्डितो ॥ १ ॥
[न तेन भवति धर्मिष्ठो येनार्थं सहसा नयेत् ।
यश्चार्थमनर्थञ्च उभौ निश्चिनुयात् पण्डितः ॥ १ ॥]

जो मनुष्य एकाएक कोई कार्य करता है, उससे वह धर्मात्मा नहीं हो जाता। जो अर्थ और अनर्थ दोनों का निश्चय करता है, वह पण्डित है ॥१॥

२५७—असाहसेन धम्मेन समेन नयती परे ।
धम्मस्स गुत्तो मेधावी धम्मट्ठो ति पवुच्चति ॥ २ ॥
[असाहसेन धर्मेण समेन नयते परान् ।
धर्मस्य गुप्तो मेधावी धर्मिष्ठ इति प्रोच्यते ॥ २ ॥]

जो मनुष्य विचार पूर्वक समान धर्म से दूसरों का पथ प्रदर्शन करता है, जो धर्म द्वारा रक्षित है तथा मेधावी है वह धर्मिष्ठ कहा जाता है ।

जेतवन — छब्बग्गिय भिक्खु

२५८—न तेन पण्डितो होति यावता बहु भासति ।
खेमी अवेरी अभयो पण्डितो ति पवुच्चति ॥ ३ ॥
[न तेन पण्डितो भवति यावता बहु भाषते ।
क्षेमी अवैरी अभयः पण्डित इति प्रोच्यते ॥ २ ॥]

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—साहसा । ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'साहसा' पाठ ही टीकाकार भदन्त बुद्धघोष का अभिप्रेत है क्योंकि प्रस्तुत स्थल के व्याख्यान में उन्होंने लिखा है—'...छन्दादिसु पतिट्ठितो साहसेन मुसावादेन विनिच्छेय्य' । टीका का यह पाठ सिंहली संस्करण में भी उपलब्ध है । परवर्ती श्लोक में 'असाहसेन' पद भी ध्यान देने योग्य है ।

इससे कोई पण्डित नहीं होता है कि वह बहुत बोलता है जो क्षेम चाहने वाला है, शत्रुता से रहित है और निर्भय है—वह पण्डित कहा जाता है ॥ ३ ॥

जेतवन

एकुदान थेर

२५९—न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति।
यो च अप्पं पि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति।
स वे धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति ॥ ४ ॥
[न तावता धर्मधरो यावता बहु भाषते।
यश्चाल्पमपि श्रुत्वा धर्मं कायेन पश्यति।
स वै धर्मधरो भवति यो धर्मं (धर्मात्) न प्रमाद्यति ॥ ४ ॥

इतने से कोई धर्मधर नहीं हो जाता कि वह बहुत बोलता है। जो थोड़ा भी सुन करके, शरीर के द्वारा धर्म का आचरण करता है, और जो धर्म में प्रमाद नहीं करता, वही धर्मधर होता है ॥ ४ ॥

जेतवन

लकुण्टकभद्दिय थेर

२६०—न तेन थेरो सो[1] होति येनस्स फलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो ति वुच्चति ॥ ५ ॥
[न तेन स्थविरः स भवति येनास्य पलितं शिरः।
परिपक्वं वयस्तस्य मोघजीर्ण इत्युच्यते ॥ ५ ॥]

इससे कोई स्थविर (वृद्ध) नहीं होता कि उस का सिर सफेद हो गया है (उस के सिर के बाल पक गए हैं)। उस की आयु परिपक्व हो गई है, पर वह व्यर्थ का वृद्ध कहा जाता है ॥ ५ ॥

२६१—यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा सञ्ञमो[2] दमो।
स वे वन्तमलो धीरो थेरो इति[3] पवुच्चति ॥ ६ ॥
[यस्मिन् सत्यञ्च धर्मश्चाहिंसा संयमो दमः।
स वै वान्तमलो धीरः स्थविर इति प्रोच्यते ॥ ६ ॥]

---

१. सिंहलदेशीय पाठ में 'सो' यह पद नहीं है लेकिन छन्द की दृष्टि से 'सो' रहना ही अधिक समीचीन है।

२. ब्रह्मदेशीय (छट्ठसंगायन संस्करण धृत) पाठान्तर—संयमो।

३. यहाँ 'थेरो इति' की जगह स्यामदेशीय पाठान्तर 'सो थेरो ति' अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम तथा दम है, वही मैल से रहित, धैर्यशाली तथा स्थविर कहा जाता है ।। ६ ।।

जेतवन — सम्बहुल भिक्खु

२६२—न वाक्करणमत्तेन वण्णपोक्खरताय वा ।
साधुरूपो नरो होति इस्सुकी मच्छरी सठो ।। ७ ।।
[न वाक्करणमात्रेण वर्णपुष्करतया वा ।
साधुरूपो नरो भवति ईर्ष्युको मत्सरी शठः ।। ७ ।।]

केवल वक्ता होने के कारण अथवा वर्ण के सौन्दर्य के कारण, ईर्ष्यालु, मत्सरयुक्त तथा शठ मनुष्य साधु रूप नहीं हो जाता ।। ७ ।।

२६३—यस्स चेतं समुच्छिन्नं मूलघच्चं समूहत ।
स वन्तदोसो मेधावी साधुरूपो ति वुच्चति ।। ८ ।।
[यस्य चैतत् समुच्छिन्नं मूलघात्यं समूहितम् ।
स वान्तदोषो मेधावी साधुरूप इत्युच्यते ।। ८ ।।]

जिसके ये दोष नष्ट हो गए हैं तथा जड़ से उखड़ गए हैं, वह दोषरहित मेधावी मनुष्य ही साधुरूप कहा जाता है ।। ८ ।।

सावत्थी[1] — हत्थक

२६४—न मुण्डकेन समणो अब्बतो अलिकं भणं ।
इच्छालोभसमापन्नो समणो किं भविस्सति ।। ९ ।।
[न मुण्डकेन श्रमणो अव्रतोऽलीकं भणन् ।
इच्छालोभसमापन्नः श्रमणः किं भविष्यति ।। ९ ।।]

व्रत रहित रहने वाला तथा झूठ बोलने वाला मनुष्य केवल मुण्डन करा लेने से श्रमण नहीं हो जाता । इच्छा तथा लोभ से भरा हुआ मनुष्य श्रमण कैसे बनेगा ।। ९ ।।

२६५—यो च समेति पापानि अणुं थूलानि सब्बसो ।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति ।। १० ।।
[यश्च शमयति पापानि अणुस्थूलानि सर्वशः ।
शमितत्वाद्धि पापानां श्रमण इति प्रोच्यते ।। १० ।।]

जो छोटे और बड़े पापों को सर्वथा शमन करता है, पापों के शमन होने के कारण ही वह श्रमण कहलाता है ।। १० ।।

---

१. धम्मपदट्ठकथा के सिंहलदेशीय पाठ के अनुसार—जेतवन ।

जेतवन

अञ्ञतर ब्राह्मण

२६६—न तेन भिक्खु सो होति यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता ॥ ११ ॥
[न तावता भिक्षुर्भवति यावता भिक्षते परान्।
विश्वं धर्मं समादाय भिक्षुर्भवति न तावता ॥ ११ ॥]

इतने से कोई भिक्षु नहीं हो जाता कि वह दूसरों से भिक्षा माँगता है। समस्त धर्मों को ग्रहण करके वह मनुष्य भिक्षु नहीं होता है ॥ ११ ॥

२६७—योध पुञ्ञं च पापं च बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति स वे भिक्खू ति वुच्चति ॥ १२ ॥
[य इह पुण्यञ्च पापञ्च वाहयित्वा ब्रह्मचर्यवान्।
संख्यया लोके चरति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥ १२ ॥]

जो यहाँ पुण्य और पाप का परित्याग करके, ब्रह्मचारी रहता हुआ, ज्ञान मार्ग से लोक में विचरता है वह भिक्षु कहा जाता है ॥ १२ ॥

जेतवन

तित्थिय

२६८—न मोनेन मुनी होति मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलं व पग्गय्ह वरमादाय पण्डितो ॥ १३ ॥
[न मौनेन मुनिर्भवति मूढरूपोऽविद्वान्।
यश्च तुलामिव प्रगृह्य वरमादाय पण्डितः ॥ १३ ॥]

जो मनुष्य मूर्ख और अविद्वान् है वह केवल मौन धारण करने से मुनि नहीं हो जाता। जो मनुष्य तुला के समान ग्रहण करके (अच्छे बुरे को तौलता है) (तथा) अच्छे को ग्रहण करता है, वह पण्डित है ॥ १३ ॥

२६९—पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥ १४ ॥
[पापानि परिवर्जयति स मुनिस्तेन स मुनिः।
यो मनुते उभौ लोकौ मुनिस्तेन प्रोच्यते ॥ १४ ॥]

जो पापों का परित्याग करता है, वह मुनि है, और इसीलिए वह मुनि है। जो दोनों लोकों का मनन करता हैं, वह मुनि कहा जाता हैं ॥ १४ ॥

जेतवन

अरिय बालिसिक

२७०—न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो ति पवुच्चति ॥ १५ ॥

[न तेनार्यो भवति येन प्राणान् हिनस्ति ।
अहिंसा सर्वप्राणानामार्य इति प्रोच्यते ॥ १५ ॥]

इससे कोई मनुष्य आर्य नहीं होता कि वह प्राणियों की हिंसा करता है । सब प्राणियों की अहिंसा की वृत्ति रखने वाला मनुष्य आर्य कहा जाता है ॥१५॥

जेतवन सम्बहुल सीलादिसम्पन्न भिक्खु

२७१—न सीलब्बतमत्तेन बाहुसच्चेन वा पन ।
अथवा समाधिलाभेन विवित्तसयनेन वा ॥ १६ ॥
[न शीलव्रतमात्रेण बाहुश्रुत्येन वा पुनः ।
अथवा समाधिलाभेन विविक्तशयनेन वा ॥ १६ ॥]

केवल सदाचार और व्रत धारण करने से, सत्यवादिता, समाधिलाभ अथवा एकान्त में शयन करने से····· ॥ १६ ॥

२७२—फुसामि नेक्खम्मसुखं अपुथुज्जनसेवितं ।
भिक्खु विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं ॥ १७ ॥
[स्पृशामि नैष्कर्म्यसुखमपृथग्जनसेवितम् ।
भिक्षो विश्वासं मा पादीः अप्राप्य आस्रवक्षयम् ॥ १७ ॥]

मैं अपृथग्जनों से सेवित (जिसे कम लोग प्राप्त कर पाते हैं) नैष्कर्म्य सुख का अनुभव करता हूँ । हे भिक्षु, जब तक चित्त के मैल का विनाश न हो जावे, तब तक विश्वास मत करो ॥ १७ ॥

—:o:—

मग्गवग्गो वीसतिमो

(मार्गवग्गो विंशः)

जेतवन — पञ्चसत भिक्खु

२७३—मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा ।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानं च चक्खुमा ॥ १ ॥
[मार्गाणामष्टांगिकः श्रेष्ठः सत्यानां चत्वारि पदानि ।
विरागः श्रेष्ठो धर्माणां द्विपदानां च चक्षुष्मान् ॥ १ ॥]

मार्गों में अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है, सत्यों में चार पद श्रेष्ठ हैं, धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में नेत्रधारी (ज्ञानवान्) श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

२७४—एसो व[1] मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया ।
एतं हि[2] तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥ २ ॥
[एष एव मार्गो नास्त्यन्यो दर्शनस्य विशुद्धये ।
एतं हि यूयं प्रतिपद्यध्वं मारस्यैतत् प्रमोहनम् ॥ २ ॥]

यही वह मार्ग है । दर्शन की विशुद्धि के लिए दूसरा नहीं है । तुम इसी पर चलो । यह मार को मोहित करने वाला है ॥ २ ॥

२७५—एतं हि[3] तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ ।
अक्खातो व[4] मया मग्गो अञ्ञाय सल्लसन्थनं[5] ॥ ३ ॥
[एतं हि यूयं प्रतिपन्ना दुःखस्यान्तं करिष्यथ ।
आख्यातो वै मया मार्ग आज्ञाय शल्यसंस्थानम् ॥ ३ ॥]

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—एसेव ।

२. ब्रह्मदेशीय (छट्टसंगायन संस्करण धृत) पाठान्तर—एतञ्हि ।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—एतञ्हि ।

४. सिंहलदेशीय पाठान्तर—वे ।

५. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—सल्लकन्तनं । नालन्दा संस्करण के सिंहली पाठान्तर में 'सल्लकन्थनं' उद्धृत है किन्तु 'सेववितरणे विकवेष्ट सीरीज' से प्रकाशित अट्ठकथा पुस्तक में 'सल्लसन्थनं' पाठ ही मुद्रित है ।

इस मार्ग पर चलकर तुम दुःखों का अन्त कर लोगे। दुःखों के विनाश को
त करके, मैंने इस मार्ग का उपदेश दिया है ॥ ३ ॥

२७६—तुम्हेहि किच्चमातप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना ॥ ४ ॥
[युष्माभिः कार्यमातप्यमाख्यातारस्तथागताः।
प्रतिप्रन्नाः प्रमोक्ष्यन्ते ध्यायिनो मारबन्धनात् ॥ ४ ॥]

तुम्हें तपस्या करना है। तथागतों का कार्य तो उपदेश करना है। मार्ग पर
चलने वाले तथा ध्यान करने वाले मार के बन्धन से मुक्त हो जावेंगे ॥ ४ ॥

जेतवन	पञ्चसत भिक्खु

२७७—सब्बे संखारा अनिच्चा ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दती[1] दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥ ५ ॥
[सर्वे संस्कारा अनित्या इति यदा प्रज्ञया पश्यति।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥ ५ ॥]

सब बनी हुई वस्तुएँ अनित्य हैं—इस तरह जब प्रज्ञा से मनुष्य देखता है
तब वह दुःखों से विरक्ति को प्राप्त होता है। यही मार्ग विशुद्धि का है ॥ ५ ॥

२७८—सब्बे संखारा दुक्खा ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बन्दती दुक्खे एष मग्गो विसुद्धिया ॥ ६ ॥
[सर्वे संस्कारा दुःखा इति यदा प्रज्ञया पश्यति।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥ ६ ॥]

सब बनी हुई वस्तुएँ दुःखमय हैं इस प्रकार जब प्रज्ञा से मनुष्य देखता है
तब वह दुःखों से विरक्ति को प्राप्त होता है। यही मार्ग विशुद्धि का है ॥ ६ ॥

२७९—सब्बे धम्मा अनत्ता ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दती[1] दुक्खे एस मग्गो वसुद्धिया ॥ ७ ॥
[सर्वे धर्मा अनात्मान इति यदा प्रज्ञया पश्यति।
अथ निर्विन्दति दुःखानि एष मार्गो विशुद्धये ॥ ७ ॥]

सब धर्म झूठ हैं—इस प्रकार जब प्रज्ञा से मनुष्य देखता है, तब वह दुःखों
से विरक्ति को प्राप्त होता है। यही मार्ग विशुद्धि का है ॥ ७ ॥

जेतवन	पधान कम्मिक तिस्स थेर

२८०—उट्ठानकालम्हि अनुट्ठहानो
युवा बली आलसियं उपेतो।

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—निब्बिन्दति।

संसन्नसंकप्पमनो कुसीतो
पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति ॥ ८ ॥

[उत्थानकाले अनुत्तिष्ठन्
युवा बली आलस्यमुपेतः ।
संसन्नसंकल्पमनाः कुसीदः
प्रज्ञाया मार्गमलसो न विन्दति ॥ ८ ॥]

उठने के समय जो उठता नहीं है, युवा तथा बलवान् होकर भी आलस्य से युक्त है, जिसके संकल्प और मन निर्बल हैं, ऐसा दीर्घसूत्री और आलसी आदमी प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं करता ॥ ८ ॥

वेळुवन सूकर पेत

२८१—वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न[1] कयिरा ।
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं ॥ ९ ॥

[वाचानुरक्षो मनसा सुसंवृतः
कायेन चाकुशलं न कुर्यात् ॥
एतान् त्रीन् कर्मपथान् विशोधयेत्
आराधयेन्मार्गमृषिप्रवेदितम् ॥ ९ ॥]

वाणी की रक्षा करने वाला, मन से संयमी बने और शरीर से बुरा कार्य न करे । इन तीन कर्मपथों को शुद्धि करे और ऋषियों के बतलाए हुए मार्ग का सेवन करे ॥ ९ ॥

जेतवन पोठिल थेर

२८२—योगा वे जायती भूरि अयोगा भूरिसंखयो ।
ऐतं द्वेधापथं ञत्वा भवाय विभवाय च ।
तथात्तानं निवेसेय्य यथा भूरि पवड्ढति ॥ १० ॥
[योगात् वै जायते भूरि अयोगाद् भूरिसंक्षयः ।
एतं द्वेधापथं ज्ञात्वा भवाय विभवाय च ।
तथाऽऽत्मानं निवेशयेद् यथा भूरि प्रवर्धते ॥ १० ॥]

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—नाकुसलं

योगाभ्यास से ज्ञान उत्पन्न होता है। योगाभ्यास न करने से ज्ञान का
क्षय होता है। लाभ और हानि के इन दो प्रकार के मार्गों को जान कर अपने
को इस प्रकार लगावे जिससे कि ज्ञान की वृद्धि होवे ।। १० ।।

जेतवन सम्बहुल भिक्खु

२८३—वनं छिन्दथ मा रुक्खं वनतो जायते भयं।
छेत्वा वनं च वनथं च निब्बना होथ भिक्खवो ।। ११ ।।
[वनं छिन्द्धि मा वृक्षं वनतो जायते भयम्।
छित्वा वनञ्च वनथञ्च निर्वना भवत भिक्षवः ।। ११ ।।

वन को (वासनाओं के वन को) काटो, वृक्ष को नहीं। वन से भय
उत्पन्न होता है। वन तथा झाड़ी को काटकर हे भिक्षुओ! तुम वनरहित
(वासनारहित) हो आओ ।। ११ ।।

२८४—याव[1] हि वनथो न छिज्जति
अणुमत्तो पि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो वे ताव सो
वच्छो खीरपको व मातरि ।। १२ ।।
[यावद्धि वनथो न छिद्यते
अणुमात्रोऽपि नरस्य नारीषु।
प्रतिबद्धमना वै तावत् सः
वत्सः क्षीरपक इव मातरि ।। १२ ।।]

जब तक मनुष्य की स्त्रियों में अणुमात्र भी कामना रहती है और काटी
नहीं जाती, तब तक दूध पीने वाला बछड़ा जैसे माता में आबद्ध रहता है, वैसे
ही उस का मन बँधा रहता है ।। १२ ।।

जेतवन सुवण्णकारपुत्त थेर (सारिपुत्तथेरस्स सद्धिविहारिको)

२८५—उच्छिन्द[2] सिनेहमत्तनो[3] कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बानं सुगतेन देसितं ।। १३ ।।

---

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—यावं।
२. नालन्दा संस्करण धृत पाठ—उच्छिन्न (यह पाठ टीकाकार के अभि-
मत नहीं प्रतीत होता है)।
३. नालन्दा संस्करण धृत सिंहलदेशीय पाठान्तर—स्नेहमत्तनो।

[उच्छिन्धि स्नेहमात्मनः कुमुदं शारदिकमिव पाणिना।
शान्तिमार्गमेव बृहय निर्वाणं सुगतेन देशितम् ॥ १३ ॥]

जिस प्रकार हाथ से शरद् ऋतु के कुमुद को काट डालते हैं, उसी प्रकार अपने प्रति उपस्थित स्नेह को काट दो। शान्ति के मार्ग पर चलो। निर्वाण सुगत के द्वारा बतलाया गया है ॥ १३ ॥

जेतवन महाधनवाणिज

२८६—इध वस्सं वसिस्सामि इध हेमन्तगिम्हिसु।
इति बालो विचिन्तेति अन्तरायं न बुज्झति ॥ १४ ॥
[इह वर्षासु वसिष्यामि इह हेमन्तग्रीष्मयोः।
इति बालो विचिन्तयति अन्तरायं न बुध्यते ॥ १४ ॥]

यहाँ वर्षा ऋतु में निवास करूँगा, यहाँ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में निवास करूँगा। मूर्ख इस प्रकार सोचता है और विघ्नों को नहीं जानता ॥ १४ ॥

जेतवन किसा गोमती

२८७—तं पुत्तपसुसंमत्तं व्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो व मच्चु आदाय गच्छति ॥ १५ ॥
[तं पुत्रपशुसम्मतं व्यासक्तमनसं नरं।
सुप्तं ग्रामं महौध इव मृत्युरादाय गच्छति ॥ १५ ॥]

जिस प्रकार सोये हुए गाँव को बड़ा जलप्रवाह बहाकर ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र तथा पशुओं में लिप्त तथा आसक्त मन वाले मनुष्य को मृत्यु लेकर चली जाती है ॥ १५ ॥

जेतवन पटाचार

२८८—न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता न पि[1] बान्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातीसु[2] ताणता ॥ १६ ॥
[न सन्ति पुत्रास्त्राणाय न पिता नाऽपि बान्धवाः।
अन्तकेनाधिपन्नस्य नास्ति ज्ञातिषु त्राणता ॥ १६ ॥]

मृत्यु से पकड़े गये मनुष्य की रक्षा के लिए न पुत्र हैं, न पिता है और न बन्धुगण हैं। जातिवालों में भी रक्षा नहीं हो सकती ॥ १६ ॥

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—नापि।
२. सिंहलदेशीय पाठान्तर—ञातिसु।

२८९—एतमत्थवसं ञत्वा पण्डितो सीलसंवुतो ।
निब्बानगमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये ॥ १७ ॥
[एतमर्थवशं ज्ञात्वा पण्डितः शीलसंवृतः ।
निर्वाणगमनं मार्गं क्षिप्रमेव विशोधयेत् ॥ १७ ॥]

इस बात का जानकर पण्डित और शीलवान् मनुष्य शीघ्र ही निर्वाण की ओर जाने वाले मार्ग को साफ करे ॥ १७ ॥

पकिण्णकवग्गो एकवीसतिमो

[प्रकीर्णकवर्ग एकविंशः]

वेळुवन

(विषय) अत्तनो पुब्बकम्म

२९०—मत्तासुखपरिच्चागा पस्से चे विपुलं सुखं।
चजे मत्तासुखं धीरो सम्पस्सं विपुलं सुखं॥ १॥
[मात्रासुखपरित्यागात् पश्येच्चेत् विपुलं सुखम्।
त्यजेन्मात्रासुखं धीरः सम्पश्यन् विपुलं सुखम्॥ १॥]

यदि मनुष्य थोड़े से सुख के परित्याग से विपुल सुख की प्राप्ति को देखें, तो वह धैर्यशाली मनुष्य विपुल सुख को देखते हुए थोड़े से सुख का परित्याग कर दे॥ १॥

जेतवन

एक कुक्कुटअण्डखादी

२९१—परदुक्खूपधानेन अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरा सो न परिमुच्चति॥ २॥
[परदुःखोपदानेन आत्मनः सुखमिच्छति।
वैरसंसर्गसंसक्तः वैरात् न स प्रमुच्यते॥ २॥]

दूसरों को दुःख देने से जो मनुष्य अपने सुख की इच्छा करता है, वैर के संसर्ग में बड़ा हुआ यह वैर से नहीं छूटता।

जातियावन

भद्दियभिक्खु

२९२—यं हि किच्चं अपविद्धं[1] अकिच्चं पन करीयति[2]।
उन्नळानं[3] पमत्तानं तेसं वड्ढन्ति आसवा॥ ३॥
[यद्धि कृत्यमपविद्धं, अकृत्यं पुनः करोति।
उन्मलानां प्रमत्तानां तेषां वर्धन्ते आस्रवाः॥ ३॥]

१—सिंहलदेशीय पाठान्तर—तदपविद्धं।

२—सिंहलदेशीय तथा स्यामदेशीय पाठान्तर—कयिरति।

३—सिंहलदेशीय पाठान्तर—उन्नलानं।

जो कर्तव्य है, उसे छोड़ देते हैं तथा अकर्तव्य को करते हैं, ऐसे बढ़े हुए मल वाले तथा प्रमत्त लोगों के आस्रव बढ़ जाते हैं ॥ ३ ॥

२९३—येसं च सुसमारद्धा निच्च कायगता सति।
अकिच्चं ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिनो।
सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छति आसवा ॥ ३ ॥
[येषाञ्च सुसमारब्धा नित्यं कायगता स्मृतिः।
अकृत्यं ते न सेवन्ते कृत्ये सातत्यकारिणः।
सतां संप्रजानानाम् अस्तं गच्छन्त्यास्रवाः ॥ ४ ॥]

परन्तु जिनकी स्मृति शरीर के प्रति सदैव बनी रहती है, जो अकर्तव्य को नहीं करते तथा सदैव कर्तव्य को करने वाले होते हैं, ऐसे स्मृतिमान् और सचेत्त मनुष्यों के आस्रव अस्त हो जाते हैं ॥ ४ ॥

जेतवन लकुण्टक भद्दिय थेर

२९४—मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठ सानुचरं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ ५ ॥
[मातरं पितरं हत्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ।
राष्ट्रं सानुचरं हत्वाऽनघो याति ब्राह्मणः ॥ ५ ॥]

माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को और प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप होकर जाता है ॥ ५ ॥

२९५—मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा अनीघो याति ब्राह्मणो ॥ ६ ॥
[मातरं पितरं हत्वा राजानौ द्वौ च श्रोत्रियौ।
[1]व्याघ्रञ्च पंचमं हत्वाऽनघो याति ब्राह्मणः ॥ ६ ॥]

माता-पिता को, दो श्रोत्रिय राजाओं को और पाँचवे व्याघ्र को मारकर ब्राह्मण निष्पाप होकर जाता है ॥ ६ ॥

जेतवन दारुसाकटिकस्स पुत्तो

२९६—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं बुद्धगता सति ॥ ७ ॥

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—वेयग्घं

[सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं बुद्धगता स्मृतिः ॥ ७ ॥]

जिनकी स्मृति दिन रात बुद्धविषयक बनी रहती है, वे गौतम के शिष्य सदैव प्रबुद्ध होकर रहते हैं ॥ ७ ॥

२९७—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं धम्मगता सति ॥ ८ ॥
[सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं धर्मगता स्मृतिः ॥ ८ ॥]

जिनकी स्मृति दिन-रात धर्मविषयक बनी रहती है, वे गौतम के शिष्य सदैव प्रबुद्ध होकर रहते हैं ॥ ८ ॥

२९८—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं संघगता सति ॥ ९ ॥
[सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं सङ्घगता स्मृतिः ॥ ९ ॥]

जिनकी स्मृति दिन-रात संघविषयक बनी रहती है, वे गौतम के शिष्य सदैव प्रबुद्ध होकर रहते हैं ॥ ९ ॥

२९९—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च निच्चं कायगता सति ॥ १० ॥
[सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च नित्यं कायगता स्मृतिः ॥ १० ॥]

जिनकी स्मृति दिन-रात शरीरविषयक बनी रहती है, वे गौतम के शिष्य सदैव प्रबुद्ध होकर रहते हैं ॥ १० ॥

३००—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च अहिंसाय रतो मनो ॥ ११ ॥
[सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च अहिंसायां रतं मनः ॥ ११ ॥

जिनका मन दिन-रात अहिंसा में रत रहता है, वे गौतम के शिष्य सदैव प्रबुद्ध होकर रहते हैं ॥ ११ ॥

३०१—सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका ।
येसं दिवा च रत्तो च भावनाय रतो मनो ॥ १२ ॥

[सुप्रबुद्धाः प्रबुध्यन्ते सदा गौतमश्रावकाः ।
येषां दिवा च रात्रौ च भावनायां रतं मनः ॥ १२ ॥

जिनका मन दिन-रात भावना में रत रहता है, वे गौतम के शिष्य सदैव प्रबुद्ध होकर रहते हैं ॥ १२ ॥

महावन (वेसाली) अञ्ञतर वज्जिपुत्तक भिक्खु

३०२— दुप्पब्बज्जं दुरभिरमं दुरावासा घरा दुखा ।
दुक्खो समानसंवासो दुक्खानुपतितद्धगू ।
तस्मा न चद्धगू सिया न च दुक्खानुपतितो सिया ॥ १३ ॥
[दुष्प्रव्रज्यं दुरभिरामं दुरावासं गृहं दुःखम् ।
दुःखोऽसमानसंवासो दुःखानुपतिताऽध्वगः ।
तस्मान्न चाध्वगः स्यान्न च दुःखानुपतितः स्यात् ॥ १३ ॥]

संसार से संन्यस्त होना कठिन है, न रहने योग्य घर में निवास करना भी दुःखदायी है । असमान लोगों के साथ रहना दुःखद है । मार्ग में गिरना दुःखद है । इसलिए मार्ग का चलने वाला न बने और न दुःख में गिरे ॥ १३ ॥

जेतवन चित्तगहपति

३०३—सद्धो सीलेन सम्पन्नो यसोभोगसमप्पितो ।
यं यं पदेसं भजति तत्थ तत्थेव पूजितो ॥ १४ ॥
[श्रद्धा शीलेन सम्पन्नो यशोभोगसमर्पितः ।
यं यं प्रदेशं भजते तत्र तत्रैव पूजितः ॥ १४ ॥]

श्रद्धा और शील से सम्पन्न तथा यश और भोग से युक्त मनुष्य जिस जिस देश में जाता है, वहीं वहीं पूजित होता है ॥ १४ ॥

जेतवन अनाथपिण्डिकस्स धीता

३०४—दूरे सन्तो पकासेन्ति हिमवन्तो व पब्बतो ।
असन्तेत्थ न दिस्सन्ति रत्ति खित्ता यथा सरा ॥ १५ ॥
[दूरे सन्तः प्रकाशन्ते हिमवन्त इव पर्वताः ।
असन्तोऽत्र न दृश्यन्ते रात्रि क्षिप्ता यथा शराः ॥ १५ ॥]

सन्त लोग बर्फीले पर्वतों के समान दूर से ही प्रकाशित होते हैं । असन्त लोग रात्रि में फेंके हुए बाणों के समान समीप में भी दिखाई नहीं देते ॥१५॥

जेतवन एकविहारिक थेर

३०५—एकासनं एकसेय्यं एको चरमतन्दितो ।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया ॥ १६ ॥
[एकासनम् एकशय्यम् एकश्चरन्नतन्द्रितः ।
एको दमयन्नात्मानं वनान्ते रतः स्यात् ॥ १६ ॥]

एक ही आसन रखने वाला, एक ही शय्या पर सोने वाला, अकेला ही विचरण करने वाला, आलस्य रहित होकर अपना दमन करता हुआ वन में रमण करे ॥ १६ ॥

———

निरयवग्गो बावीसतिमो

[निरयवर्गो द्वाविंशः]

जेतवन सुन्दरी परिब्बाजिका

३०६—अभूतवादो निरयं उपेति
योवा[1] पि कत्वा न करोमी[2] चाह।
उभो पि ते पेच्च समा भवन्ति
निहीनकम्मा मनुजा परत्थ ॥ १ ॥
[अभूतवादी निरयमुपेति
यो वाऽपि कृत्वा न करोमि चाह।
उभावपि तौ प्रेत्य समा भवन्ति
निहीनकर्माणः मनुजाः परत्र ॥ १ ॥]

असत्य बोलने वाला मनुष्य नरक में जाता है और वह भी नरक में जाता है जो करके भी कहता है कि मैं नहीं करता। दोनों ही प्रकार के नीच कर्म करने वाले मनुष्य मरकर समान हो जाते हैं ॥ १ ॥

वेळुवन दुच्चरितफलानुभावपीळितसत्त

२०७—कासावकण्ठा बहवो पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि निरयं ते उपपज्जरे ॥ २ ॥
[काषायकण्ठा बहवः पापधर्मा असंयताः।
पापाः पापैः कर्मभिर्निरयं ते उपपेदिरे ॥ २ ॥]

कण्ठ में कषाय वस्त्र डालने वाले बहुत से पापी और असंयत होते हैं। वे पापी पाप कर्मों से नरक में पहुँचते हैं ॥ २ ॥

महावन (वेसाली) वग्गुमुदातीरिय भिक्खु

३०८—सेय्यो अयोगुलो[3] भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।

---

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—चा।

२. नालन्दासंस्करणधृत स्यामदेशीय पाठान्तर—करोमीति।

३. सिंहलदेशीय पाठान्तर—अयोगुली।

यंचे भुञ्जेय्य दुस्सालो रट्ठपिण्डमञ्ञसतो ॥ ३ ॥
[श्रेयोऽयोगुलं भुक्तं तप्तमग्निशिखोपमम् ।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिण्डमसंयतः ॥ ३ ॥]

दुराचारी तथा असंयत मनुष्य के लिए राष्ट्र का अन्न खाने की अपेक्षा अग्नि की शिखा के समान जलता हुआ लोहे का गोला खाना श्रेयस्कर है ॥३॥

जेतवन खेमक (अनाथपिण्डिकस्स भागिनेय्यो)

३०९--चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो आपज्जति परदारूपसेवी ।
अपुञ्ञलाभं न निकामसेय्यं निन्दं ततियं[1] निरयं चतुत्थं ॥ ४ ॥
[चत्वारि स्थानानि नरः प्रमत्तः
आपद्यते परदारोपसेवी ।
अपुण्यलाभं न निकामशय्यां
निन्दां तृतीयां निरयं चतुर्थम् ॥ ४ ॥]

परस्त्री-गमन करने वाला प्रमत्त मनुष्य चार गतियों को प्राप्त करता है—अपुण्य लाभ, स्वेच्छापूर्ण निद्रा का अभाव, तीसरी निन्दा और चौथा नरक ॥४॥

३१०---अपुञ्ञलाभो च गती च पापिका
भीतस्स भीताय रती च थोकिका ।
राजा च दण्डं गुरूकं पणेति
तस्मा नरो परदारं न सेवे ॥ ५ ॥
[अपुण्यलाभश्च गतिश्च पापिका
भीतस्य भीताया रतिश्च स्तोकिका ।
राजा च दण्डं गुरुकं प्रणयति
तस्मान्नरः परदारान्न सेवेत ॥ ५ ॥]

ऐसे मनुष्य को अपुण्य लाभ, पाप की गति और भयभीत मनुष्य की भय से पीड़ित हुई स्त्री से थोड़ी सी प्रीति की प्राप्ति है, तथा राजा उसे बड़ा दण्ड देता है। अत एव मनुष्य को चाहिये कि पराई स्त्री का सेवन न करे ॥५॥

जेतवन अञ्ञतर दुब्बचभिक्खु

३११---कुसो यथा दुग्गहितो हत्थमेवानुकन्तति ।

---

१. ब्रह्मदेशीय तथा सिंहलदेशीय पाठान्तर—ततीय ।

सामञ्ञं दुप्परामट्ठं निरय्याय उपकड्ढति[1] ॥ ६ ॥
[कुशो यथा दुर्गृहीतो हस्तमेवानुकृन्तति ।
श्रामण्यं दुष्परामृष्टं निरयायोपकर्षति ॥ ६ ॥]

जिस प्रकार अच्छी तरह से न पकड़ा हुआ कुश हाथ को ही काट डालता है उसी प्रकार अच्छी तरह अभ्यास न किया गया श्रमणपन मनुष्य को नरक में ले जाता है ॥ ६ ॥

३१२—यं किञ्चि सिथिलं कम्मं सङ्किलिट्ठं च यं वतं ।
सङ्कस्सरं[2] ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलं ॥ ७ ॥
[यत् किञ्चित् शिथिलं कर्म संक्लिष्टं च यद् व्रतम् ।
संकृच्छ्रं ब्रह्मचर्यं न तद् भवति महाफलम् ॥ ७ ॥]

जो कार्य शिथिलता से किया जाता है, जो व्रत क्लेश से युक्त है, और जो ब्रह्मचर्य अशुद्ध है,—इन सबका महान् फल नहीं होता ॥ ७ ॥

३१३—कयिरञ्चे[3] कयिराथेनं दळ्हमेनं परक्कमे ।
सिथिलो हि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं ॥ ८ ॥
[कुर्याच्चेत् कुर्वीतैतद् दृढमेतत् पराक्रमेत ।
शिथिलो हि परिव्राजको भूय आकिरते रजः ॥ ८ ॥]

यदि करना है तो इसे करे और दृढ़ता पूर्वक इसे सम्पन्न कर डाले । शिथिल परिव्राजक बहुत धूल को ही फैलाता है ॥ ८ ॥

जेतवन अञ्ञतरा इस्सापकता इत्थि

३१४—अकतं दुक्कतं[4] सेय्यो पच्छा तपति[5] दुक्कतं ।

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—निरयायुपकड्ढति ।

२. डॉ० फज़्बोल के मतानुसार—'सङ्कस्सरं' पद संस्कृत 'शङ्का' और स्मर दो पदों का समस्त रूप है । डॉ० फज़्बोल का व्याख्यान टीकाकार का सम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने प्रकृत स्थल की टीका में लिखा है—सङ्कस्सरन्ति शङ्काहि सरितब्बं । उपोसथकिच्चादिसु अञ्ञतरकिच्चेन सन्निपतितम्पिसङ्घं दिस्वा 'अद्धा इमे मम चरियं ञत्वा मं उक्खिपितुकामा न सन्निपतिता' ति एवं अत्तनो आसङ्काहि, सरितं उस्सङ्कितं परिसङ्कितं ।

३. सिंहलदेशीय तथा ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—कयिरा चे ।

४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—दुक्कटं ।

५. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—तप्पति ।

कतं च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुतप्पति ॥ ९ ॥
[अकृतं दुष्कृतं श्रेयः पश्चात्तपति दुष्कृतम् ।
कृतं च सुकृतं श्रेयो यत्कृत्वा नानुतप्यति ॥ ९ ॥]

पाप कार्य का न करना श्रेष्ठ है। पाप कार्य पीछे दुःख देता है। पुण्य कार्य करना श्रेष्ठ है, जिसे करके मनुष्य दुःखी नहीं होता ॥ ९ ॥

जेतवन सम्बहुल आगन्तुक भिक्खु

३१५—नगरं यथा पच्चन्तं गुत्तं सन्तरबाहिरं।
एवं गोपेथ अत्तानं खणो वे[1] मा उपच्चगा ॥
खणातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समप्पिता ॥१०॥
[नगरं यथा प्रत्यन्तं गुप्तं सान्तर्बाह्यम् ।
एवं गोपयेदात्मानं क्षणो वै मा उपातिगात् ॥
क्षणातीता हि शोचन्ति निरये समर्पिताः ॥ १० ॥]

जिस प्रकार सीमान्त के नगर की भीतर तथा बाहर से रक्षा की जाती है, इसी प्रकार मनुष्य स्वयं की रक्षा करे, क्षण भर भी न चूके। क्षण चूक जाने वाले लोग नरक में पड़े हुए शोक करते हैं ॥ १० ॥

जेतवन निगण्ठ

३१६—अलज्जिताये लज्जन्ति लज्जिताये न लज्जये।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ ११ ॥
[अलज्जार्हे लज्जन्ते लज्जार्हे न लज्जिता।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥ ११ ॥]

जो अलज्जा के योग्य कार्यों में लज्जा करते हैं और लज्जा के योग्य कार्यों में लज्जित नहीं होते, झूठी धारणा को ग्रहण करने वाले वे प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

३१७—अभये भयदस्सिनो भये चाभयदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ १२ ॥
[अभये भयदर्शिनो भये चाभयदर्शिनः।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥ १२ ॥]

जो भय रहित कार्यों में भय देखते हैं और भययुक्त कार्यं में भय नहीं

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—वै।

देखते हैं, झूठी धारणा को ग्रहण करने वाले वे प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

जेतवन तित्थियसावक

३१८—अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे चावज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥ १३ ॥
[अवद्ये[1] वद्यमतयो चावद्यदर्शिनः।
मिथ्यादृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥ १३ ॥

जो दोष रहित कार्य में दोष बुद्धि रखते हैं और दोष-युक्त कार्य में अदोष को देखते हैं, झूठी धारणा को ग्रहण करने वाले वे प्राणी दुर्गति को प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

३१९—वज्जं च वज्जतो ञत्वा अवज्जं च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुग्गतिं ॥ १४ ॥
[वद्यं च वद्यतो ज्ञात्वाऽवद्यं चावद्यतः।
सम्यग्दृष्टिसमादानाः सत्त्वा गच्छन्ति सुगतिम् ॥ १४ ॥]

जो दोषयुक्त कार्य को दोषयुक्त जानकर, तथा दोषरहित कार्य को दोषरहित जानकर यथार्थ धारणा ग्रहण करते हैं, वे प्राणी सद्गति को प्राप्त होते हैं ॥ १४ ॥

—:०:—

१. अभिधानकार चाईल्डार्स तथा डॉ० राज् डेवीड्स के मतानुसार ३१८-३१९ गाथाओं में प्रयुक्त 'वज्ज' शब्द का संस्कृत रूप 'वर्ज्य' है वद्य नहीं। अतः 'अवज्ज' का संस्कृत अवर्ज्य है।

नागवग्गो तेवीसतिमो

[नागवर्गस्त्रयोविंशः]

कोसम्बी आनन्द त्थेर

३२०—अहं नागो व संगामे चापतो[1] पतितं सरं।
अतिवाक्यं तितिक्खिस्सं दुःस्सीलो हि बहुज्जनो ।। १ ।।
[अहं नाग इव संग्रामे चापतः पतितं शरम् ।
अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये दुःशीलो हि बहुः जनः ।। १ ।।]

जिस प्रकार हाथी संग्राम में धनुष से गिरे हुए बाण को सहन करता है, उसी प्रकार मैं कटुवाक्य को सहन करूँगा। दुष्ट लोग ही अधिक हैं ।। १ ।।

३२१—दन्तं नयन्ति समितिं दन्तं राजाभिरूहति।
दन्तो सेट्ठो मनुस्सेसु यो ति वाक्यं तितिक्खति ।।
[दान्तं नयन्ति समितिं दान्तं राजाभिरोहति ।
दान्तः श्रेष्ठो मनुष्येषु याऽतिवाक्यं तितिक्षते ।। २ ।।

दमन किए हुए हाथी को युद्ध में ले जाते हैं। दमन किए हुए हाथी पर राजा आरोहण करता है। मनुष्यों में भी (अपना) दमन करने वाला श्रेष्ठ है, जो कि कटु वाक्य को सहन करता है ।। ३ ।।

३२२—वरमस्सतरा दन्ता आजानीया च[2] सिन्धवा ।
कुञ्जरा च महानागा अत्तदन्तो ततो वरं ।। ३ ।।
[वरमश्वतरा दान्ता आजनेयाश्च सैन्धवाः ।
कुञ्जराश्च महानागा आत्मदान्तस्ततो वरम् ।। ३ ।।]

दमन किए हुए खच्चर, सिन्ध देश के कुटिल घोड़े और बड़े हाथी श्रेष्ठ हैं। पर अपने को दमन करने वाला मनुष्य उनसे भी श्रेष्ठ है ।। २ ।।

---

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—चापातो, डॉ० फज़बोल ने 'चापातो' पाठ ही स्वीकार किया है।

२. पाठान्तर—व।

तवन एक हत्थाचरियपुब्बक भिक्खु

३२३—न हि एतेहि यानेहि गच्छेय्य अगतं दिसं।
यथात्तना सुदन्तेन दातो दन्तेन गच्छति ॥ ४ ॥
[न हि एतैर्यानैः गच्छेदगतां दिशाम्।
यथात्मना सुदान्तेन दान्तो दान्तेन गच्छति ॥ ४ ॥]

इन सवारियों से न जानी पहचानी हुई दिशा में मनुष्य नहीं जा सकता। संयमी मनुष्य अच्छी तरह दमन किए गए अपने द्वारा वहाँ जा सकता है ॥४॥

ावत्थी अञ्ञतर परिजिण्ण ब्राह्मणपुत्त

३२४—धनपालको[1] नाम कुञ्जरो कटुकप्पभेदनो[2] दुन्निवारयो।
बद्धो कवळं न भुञ्जति सुमरति[3] नागवनस्स कुञ्जरो ॥ ५ ॥
[धनपालको नाम कुञ्जरः कटकप्रभेदनो दुर्निवार्यः।
बद्धः कवलं न भुङ्क्ते स्मरति नागवनस्य कुञ्जरः ॥ ५ ॥]

सेना को तितर बितर करने वाला, दुर्धर्ष धनपालक नाम का हाथी बन्धन में पड़ जाने पर एक कौर नहीं खाता है और वह हाथियों के जंगल का स्मरण करता है ॥ ५ ॥

तवन राजा पसेनदि कोसल

३२५—मिद्धो यदा होति महग्घसो च निद्दायिता संपरिवत्तसायी।
महावराहो व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो ॥ ६ ॥
[मृद्धो यदा भवति महाघसश्च निद्रायितः सम्परिवर्तशायी।
महावराह इव निवापपुष्टः पुनः गर्भमुपैति मन्दः ॥ ६ ॥]

जब मनुष्य आलसी बन जाता है, ज्यादा खाने वाला हो जाता है.. निद्रालु हो जाता है, करवट बदल बदल कर सोता है, तब वह खा पीकर मोटे हुए सुअर के समान वह मूर्ख बार-बार जन्म लेता है ॥ ६ ॥

तवन सानु सामणेर

३२६—इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं
येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं।

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—धनपालो।
२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—कटुकभेदनो।
३. सिंहलदेशीय पाठान्तर—सुमरती।

तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो
हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥ ७ ॥
[इदं पुरा जित्तमचरच्चारिकां
यथेच्छं यथाकामं यथासुखम् ।
तदद्याहं निग्रहीष्यामि योनिशो
हस्तिनं प्रभिन्नमिवाङ्कुशग्राहः ॥ ७ ॥]

यह मेरा चित्त पहिले अपनी इच्छा पूर्वक कामनाओं के अनुसार तथा सुखों के अनुसार विचरता रहा। जिस प्रकार अंकुश ग्रहण करने वाला महावत मतवाले हाथी को पकड़ता है, उसी प्रकार मैं आज इसे जड़ से पकड़ूँगा ॥ ७ ॥

जेतवन पावेय्यव[1] नामक हत्थी

३२७—अप्पमादरता होथ सचित्तमनुरक्खथ ।
दुग्गा उद्धरथत्तान पङ्के सन्नो[2] व कुञ्जरो ॥ ८ ॥
[अप्रमादरता भवत स्वचित्तमनुरक्षत ।
दुर्गादुद्धरतात्मानं पङ्के सक्त इव कुन्जरः ॥ ८ ॥]

अप्रमाद युक्त बनो। अपने चित्त की रक्षा करो। जिस प्रकार कीचड़ में फँसा हुआ हाथी अपना उद्धार करता है, उसी प्रकार कठिनाइयों से अपने आप को निकालो ॥ ८ ॥

पालिलेय्यक (रक्खितवसण्ड) सम्बहुल भिक्खु

३२८—सचे लभेथ निपकं सहायं
सद्धिं चरं साधुविहारि धीरं ।
अभिभुय्य सब्बानि परिस्सयानि
चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा ॥ ९ ॥
[स चेत् लभेत निपक्वं सहायं
सार्धञ्चरं साधुविहारि धीरम् ।
अभिभूय सर्वान् परिश्रयान्
चरेत् तेनात्तमनाः स्मृतिमान् ॥ ९ ॥]

उसे यदि परिपक्व बुद्धि वाला सहायक मिल जावे, जो साथ में चले, जो

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—वद्धरेक ।
२. सिंहलदेशीय पाठान्तर—सत्तो ।

साधुता से आचरण करता हो, और जो धैर्यशाली हो, तो सभी परिश्रयों को हटा करके सचेत और प्रसन्न मन के द्वारा उसके साथ विचरण करे ॥ ९ ॥

३२९—नो चे लभेथ निपकं सहायं सद्धिं चरं साधुविहारि धीरं।
राजा व रट्ठं विजितं पहाय एको चरे मातङ्गरञ्ञे व नागो ॥१०॥

[न चेत् लभेत निपक्वं सहायं
सार्धंश्चरं साधुविहारि धीरम्।
राजेव राष्ट्रं विजितं प्रहाय
एकश्चरेत् मातङ्गोऽरण्य इव नागः ॥ १० ॥]

उसे यदि परिपक्व बुद्धि वाला सहायक न मिले, जो साथ में चले, जो साधुता से आचरण करता हो, जो धैर्यशाली हो तो जिस प्रकार से पराजित राष्ट्र को छोड़कर राजा चला जाता है और जिस प्रकार हाथी नागवन में अकेला विचरण करता है उसी तरह वह अकेला विचरण करे ॥ १० ॥

३३०—एकस्स चरितं सेय्यो
नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कयिरा
अप्पोस्सुको[1] मातङ्गरञ्ञे व नागो ॥ ११ ॥

[एकस्य चरितं श्रेयो,
नास्ति बाले सहायता।
एकश्चरेन्न च पापानि कुर्याद्
अल्पोत्सुको मातङ्गोऽरण्य इव नागः ॥ ११ ॥]

अकेला विचरण करना श्रेष्ठ है, परन्तु, मूर्ख को सहायक बनाना श्रेष्ठ नहीं। मनुष्य अकेला ही विचरण करे और और पाप न करे। जिस प्रकार हाथी नागवन में अकेला ही विचरण करता है, उसी प्रकार कम उत्सुकता के लिए विचरण करे ॥ ११ ॥

हिमवन्तपदेसे अरञ्ञकुटिका मार

३३१—अत्थम्हि जातम्हि सुखा सहाया।
तुट्ठी सुखा या इतरीतरेन।
पुञ्ञं सुखं जीवितसङ्खयम्हि
सब्बस्स दुक्खस्स सुखं पहानं[1] ॥१२॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—अप्पोस्सुक्को।

[अर्थे जाते सुखाः सहायाः तुष्टिः सुखा या इतरेतरेण ।
पुण्यं सुखं जीवितसंक्षये सर्वस्य दुःखस्य सुखं प्रहाणम् ॥ १२ ॥]

काम पड़ने पर सहायक सुखकर होते हैं। चाहे जिस पदार्थ की प्राप्ति से जो संतोष होता है वह सुख कर है। जीवन के क्षय होने पर पुण्य सुखकारी है। और सब दुःखों का विनाश सुखकारी है ॥ १२ ॥

३३२—सुखा मत्तेय्यता लोके अथो पेत्तय्यता सुखा ।
सुखा सामञ्ञता लोके अथो ब्रह्मञ्ञता सुखा ॥१३॥
[सुखा मात्रीयता लोकेऽथ पित्रीयता सुखा ।
सुखा श्रमणता लोकेऽथ ब्राह्मणता सुखा ॥ १३ ॥]

संसार में माता बनना सुखकारी है, पिता बनना सुखकारी है[2], श्रमण बनना सुखकारी[3] है तथा ब्राह्मण बनना सुखकारी है ॥ १३ ॥

३३३—सुखं याव जरा सीलं सुखा सद्धा पतिट्ठिता ।
सुखो पञ्ञाय पटिलाभो पापानं अकरणं सुखं ॥ १४ ॥
[सुखं यावत् जरां शीलं सुखा श्रद्धा प्रतिष्ठिता ।
सुखः प्रज्ञायाः प्रतिलाभः पापानामाकरणं सुखम् ॥१४॥

वृद्धावस्था तक सदाचार का पालन करना सुखकारी है। (अपने में) स्थित हुई श्रद्धा सुखकारी है। प्रज्ञा का लाभ होना सुखकारी है। पाप का न करना सुखकारी है ॥ १४ ॥

---

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर-पहाणं ।

२. यहाँ टीकाकार के अनुसार 'मत्तेय्यता' तथा 'पेत्तेय्यता' का अर्थ क्रमशः 'माता की सेवा' एवं 'पिता की सेवा' है ('मत्तेय्यताति मातरि सम्मा पटिपत्ति। पेत्तेय्यता ति पितरि सम्मा पटिपत्ति'—अट्ठकथा)।

३. यद्यपि राहुल सांकृत्यायन आदि आधुनिक विद्वान् 'सामञ्ञता' की छाया 'श्रमणता' समझकर 'श्रमणभाव (= संन्यास)' ऐसा अनुवाद करते हैं किन्तु यह व्याख्यान टीकाकार भदन्त बुद्धघोष के अभिप्रेत नहीं है उनके मतानुसार 'सामञ्ञता' का संस्कृत रूप 'सामान्यता' होना उचित है। उसका अर्थ है सभी प्राणियों के प्रति समदृष्टि की सेवा करना ('सामञ्ञता ति सब्बजीवेसु सम्मा पटिपत्ति'—अट्ठकथा)।

तण्हावग्गो चतुवीसतिमो

(तृष्णावर्गश्चतुर्विंशः)

जेतवन कपिलमच्छ

३३४—मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय ।
सो प्लवति[1] हुराहुरं फलमिच्छं व वनस्मि[2] वानरो ॥ १ ॥
[मनुजस्य प्रमत्तचारिणः तृष्णा वर्धते मालुवेव ।
स प्लवतेऽहूरहः[3] फलमिच्छन् इव वने वानरः ॥ १ ॥]

प्रमत्त होकर आचरण करने वाले मनुष्य की तृष्णा मालुवा लता के समान बढ़ती है । वन में फल की इच्छा करने वाले बन्दर के समान वह दिनोंदिन भटकता रहता है ॥ १ ॥

३३५—यं एसा सहते[4] जम्मी तण्हा लोके विसत्तिका ।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवठ्ठं[5] व बोरणं ॥ २ ॥
[यमेषा साहयति जन्मिनी तृष्णा लोके विषात्मिका ।
शोकास्तस्य प्रवर्द्धन्तेऽभिवृद्धामिव वीरणम् ॥ २ ॥]

यह जनमते रहने वाली विषमयी तृष्णा संसार में जिसे घेर लेती है, उसके दुःख इस प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वीरण नाम को घास बढ़ती है ॥ २ ॥

३३६--यो चेतं[6] सहते[7] जम्मि तण्हं लोके दुरच्चयं ।
सोका तम्हा पपतन्ति उदबिन्दु व पोक्खरा ॥ ३ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—प्लवती, डॉ० फज़बोल सम्मत पाठ—पलवती ।

२. सिंहलदेशीय पाठान्तर—वनस्मि (छन्दोभङ्गदोष) ।

३. हुराहुरं का संस्कृत रूप अनिश्चित है । इसका अर्थ 'इतस्ततः' करने से संगत होगा ।

४. डॉ० फज़बोल सम्मत पाठ—सहती ।

५. डॉ० फज़बोल सम्मत पाठ—अभिवड्ढं ।

६. डॉ० फज़बोल सम्मत पाठ—वेतं ।

७. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़बोल सम्मत पाठ—सहती ।

[यश्चैतां साहयति जन्मिनीं तृष्णां लोके दुरत्ययाम् ।
शोकास्तस्य प्रपतन्त्युदबिन्दुरिव पुष्करात् ॥ ३ ॥

इस जनमते रहने वाली और दुस्त्याज्य तृष्णा को संसार में जो परास्त कर देता है, उसके दुःख इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार कमलपत्र से जल का बिन्दु गिरकर नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

३३७--तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता ।
तण्हाय मूलं खणथ उसोरत्थो व बीरणं ।
मा वो नळं व सोतो व मारो भञ्जि पुनप्पुनं ॥ ४ ॥
[तद् वो वदामि भद्रं वो यावन्तोऽत्र समागताः ।
तृष्णाया मूलं खनत उशीरार्थीव वीरणम् ।
मा वो नलमिव स्रोतो मारो भनक्तु पुनःपुनः ॥ ४ ॥]

मैं तुम से कहता हूँ । जितने तुम सब यहाँ आए हो, तुम्हारा कल्याण हो । तुम तृष्णा की जड़ को इस प्रकार खोद डालो जिस प्रकार खस को चाहने वाला वीरण घास को खोद डालता है । मार तुम्हें इस प्रकार नष्ट न कर दे, जिस प्रकार जल प्रवाह मृणाल को नष्ट कर देता है ॥ ४ ॥

वेळु वन गूथसूकरपोतिक

३३८--यथापि मूले अनुपद्दवे दळ्हे छिन्नो पि रुक्खो पुनरेव रूहति ।
एवं पि तण्हानुसये अनूहते निब्बत्तता[1] दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥५॥
[यथाऽपि मूलेऽनुपद्रवे दृढे छिन्नोऽपि वृक्षः पुनरेव रोहति ।
एवमपि तृष्णानुशयेऽनिहते निर्वर्तते दुखमिदं पुन पुनः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार जड़ के दृढ़ होने और स्थिर रहने पर, कटा हुआ वृक्ष भी फिर से बढ़ जाता है उसी प्रकार तृष्णा के संस्कारों के नष्ट न हो जाने पर यह दुःख बार-बार वापिस आ जाता है ॥ ५ ॥

३३९--यस्स छत्तिसति[2] सोता मनापस्सवना[3] भुसा ।
वाहा[4] वहन्ति दुद्दिट्ठिं सङ्कप्पा रागनिस्सिता ॥ ६ ॥]

१. डॉ० फज़बोल--निब्बत्तति ।
२. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़बोल सम्मत पाठ--छत्तिसती ।
३. ब्रह्मदेशीय पाठ--मनापसवना ।
४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर--महा ।

[यस्य षट्त्रिंशत् स्रोतांसि मनःप्रस्रवणानि भूयासुः ।
वाहा वहन्ति दुर्दृष्टि सङ्कल्पा रागनिःसृताः ॥ ६ ॥

जिसकी तृष्णा के छत्तीस स्रोत प्रिय वस्तुओं की ओर बहते रहते हैं, राग से निकले हुए उसके संकल्प, उस मूर्ख मनुष्य को प्रवाह के समान बहाकर ले जाते हैं ॥ ६ ॥

३४०—सवन्ति सब्बधी[1] सोता लता उब्भिज्ज[2] तिट्ठति ।
तं च दिस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिन्दथ ॥ ७ ॥
[स्रवन्ति सर्वतः स्रोतांसि लतोद्भिद्य तिष्ठति ।
ताञ्च दृष्ट्वा लतां जातां मूलं प्रज्ञया छिन्दत ॥ ७ ॥]

तृष्णा के स्रोत सब ओर बहते हैं । इस कारण से लता फूटकर खड़ी हो जाती है । उस उत्पन्न हुई लता को देखकर, प्रज्ञा से उसकी जड़ों को काट डालो ॥ ७ ॥

३४१—सरितानि सिनेहितानि च सोमनस्सानि भवन्ति जन्तुनो ।
ते सातसिता सुखेसिनो ते वे जाति जरूपगा नरा ॥ ८ ॥
(सरितः स्निग्धाश्च सौमनस्या भवन्ति जन्तोः ।
ते स्रोतःसृताः सुखैषिणस्ते वै जातिजरोपगा नराः ॥ ८ ॥]

तृष्णा की नदियाँ स्निग्ध होती हैं और वे प्राणियों के चित्त को प्रसन्न करने वाली होती हैं । जो मनुष्य सुख की खोज करने वाले हैं और इन नदियों के प्रवाह में पड़े रहते हैं, वे जन्म और जरा के चक्कर में पड़ते हैं ॥ ८ ॥

३४२—तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो व बाधितो[3] ।
संयोजनसंसत्तका[4] दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय ॥ ९ ॥
[तृष्णया पुरस्कृताः प्रजाः परिसर्पन्ति शश इव बाधितः ।
संयोजनसंसक्तका दुःखमुपयान्ति पुनः पुनः चिराय ॥ ९ ॥]

तृष्णा के पीछे चलनेवाले लोग, बँधे हुए खरगोशों की तरह चक्कर काटते हैं । बन्धनों में फँसे हुए लोग चिरकाल तक बार-बार दुःख को पाते हैं ॥ ९ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—सब्बधि ।
२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—उप्पज्ज
३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—बन्धितो ।
४. डॉ० फज़बोलधृत पाठ—सञ्ञोजनसङ्गसत्ता ।

३४३--तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो व बाधितो।
तस्मा तसिणं विनोदये[1] आकङ्खी[2] विरागमत्तनो ॥ १० ॥
[तृष्णया पुरस्कृताः प्रजाः परिसर्पन्ति शश इव बाधितः।
तस्मात् तृष्णां विनोदयेद् आकाङ्क्षी विरागमात्मनः ॥ १० ॥]

तृष्णा के पीछे चलने वाले लोग बँधे हुए खरगोशों की तरह चक्कर काटते हैं। इसलिए अपने वैराग्य की आकांक्षा करने वाले (भिक्षु) को तृष्णा को दूर करना चाहिए ॥ १० ॥

वेळुवन एक विभन्तक भिक्खु

३४४—यो निब्बनथो वनाधिमुत्तो वनमुत्तो वनमेव धावति।
तं पुग्गलमेव[3] पस्सथ मुत्तो बन्धनमेव धावति ॥ ११ ॥
[यो निर्वनतो वनेऽधिमुक्तो वनमुक्तो वनमेव धावति।
तं पुद्गलमेव पश्यत मुक्तो बन्धनमेव धावति ॥ ११ ॥]

जो वन में बन्धन से छूट जाता है और वन से (तृष्णा के वन से) मुक्त होकर वन की ही ओर दौड़ता है। उस मनुष्य को देखो जो मुक्त होकर फिर बन्धन की ही ओर दौड़ता है ॥ ११ ॥

जेतवन (विषय) बन्धनागार

३४५—न तं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुजं बब्बजं[4]च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा[5] ॥ १२ ॥
[न तद् दृढं बन्धनमाहुर्धीराः यदायसं दारुजं पर्वजञ्च।
सारवद् रक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारेषु च या अपेक्षा ॥ १२ ॥]

धैर्यशाली मनुष्य उसे दृढ़ बन्धन नहीं कहते हैं, जो लोहे का बना हो,

---

१. यहाँ सिहलदेशीय तथा डॉ० फज़्बोलसम्मत पाठ में 'भिक्खु' यह पद अधिक है।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—आकङ्खन्त। डॉ० फज़्बोल सम्मत पाठ-आकङ्ख।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर— पुग्गलमेथ।

४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—दारुजपब्बजं (छन्द की दृष्टि से अधिक समीचीन)।

५. सिहलदेशीय तथा डॉ० फज़्बोलसम्मत पाठ--अपेखा।

लकड़ी का बना हो या रस्सी का बना हो। वास्तव में दृढ़ बन्धन तो धन में, मणि में, कुण्डल में, पुत्र में तथा स्त्री में आसक्त होना ही है ॥ १२ ॥

३४६—एतं दळ्हं बन्धनमाहु धीरा आहारिनं सिथिलं दुप्पमुञ्चं।
एतं पि छेत्वान परिब्बजन्ति अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय ॥१३॥
[एतत् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा अवहारि शिथिलं दुष्प्रमोचम्।
एतदपि छित्त्वा परिव्रजन्ति अनपेक्षिणः कामसुखं प्रहाय ॥१३॥

धैर्यशाली मनुष्य उसे दृढ़ बन्धन कहते हैं, जो नीचे खींचता है, जो शिथिल है और जो कठिनाई से छूटने योग्य है। निःस्पृह लोग इसे भी काट कर तथा काम-सुख को छोड़ कर संसार से विरक्त हो जाते हैं ॥ १३ ॥

खेमा (बिम्बिसारस्स) अग्गमहेसी
वेळुवन

३४७—ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं
सयंकतं मक्कटको व जालं।
एतं पि छेत्वान वजन्ति धीरा
अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय ॥ १४ ॥
[ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः
स्वयंकृतं मर्कटक इव जालम्।
एतदपि छित्त्वानुव्रजन्ति धीराः
अनपेक्षिणः सर्वदुःखं प्रहाय ॥ १४ ॥]

जो राग में अनुरक्त हैं वे तृष्णा के स्रोत में जा पड़ते हैं, जिस प्रकार मकड़ी अपने स्वयं के बनाये हुए जाल में फँस जाती है। निःस्पृह और धैर्य-शाली लोग इसे भी काटकर तथा सब दुःखों को छोड़ कर संसार से विरक्त हो जाते हैं ॥ १४ ॥

उग्गसेन
वेळुवन

३४८—मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्स पारगू।
सब्बत्थ विमुत्तमानसो न पुन जातिजरं उपेहिसि ॥ १५ ॥
[मुञ्च पुरा मुञ्च पश्चात् मध्ये मुञ्च भवस्य पारगः।
सर्वत्र विमुक्तमानसो न पुनः जातिजरामुपेष्यसि ॥ १५ ॥]

भूत, भविष्य तथा वर्तमान के बन्धनों को त्याग दो और संसार के पार

चले जाओ। जब तुम्हारा मन सब ओर से मुक्त हो जायेगा, तब तुम फिर जन्म और जरा को न प्राप्त होवोगे ॥ १५ ॥

जेतवन चूल धनुग्गह पण्डित[1]

३४९—वितक्कपमथितस्स जन्तुनो तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो।
भिय्यो[2] तण्हा पवड्ढति एस खो दळ्हं करोति बंधनं ॥१६॥
[वितर्कप्रमथितस्य जन्तोः तीव्ररागस्य शुभानुपश्यतः।
भूयः तृष्णा प्रवर्द्धते एष खलु दृढं करोति बन्धनम् ॥ १६ ॥]

जो प्राणी संदेह में फँसा हुआ है, जो तीव्र राग से युक्त है, जो शुभ वस्तुओं को देखने वाला है, उसकी तृष्णा और भी बढ़ जाती है। वह बन्धन को दृढ़ बनाता है ॥ १६ ॥

३५०—वितक्कूपसमे च यो रतो असुभं भावयति[3] सदा सतो।
एस खो व्यन्ति[4] काहिति एस छेच्छति[5] मारबन्धनं ॥ १७ ॥
[वितर्कोपशमे च यो रतः अशुभं भावयते सदा।
एष खलु व्यन्ती करिष्यति एष छेत्स्यति मारबन्धनम् ॥१७॥]

जो प्राणी संदेह को शान्त करने में लगा है, जो सदा (संसार की वस्तुओं में) अशुभ की भावना करता है, वह मार के बन्धन को काट देगा और उसका विनाश कर देगा ॥ १७ ॥

जेतवन मार

३५१—निट्ठं गता असन्तासी वीततण्हो अनङ्गणा।
अच्छिन्दि भवसल्लानि अन्तिमोऽयं[7] समुस्सयो ॥ १८ ॥

---

१. धम्मपदट्ठकथा के सिंहलदेशीय पाठ के अनुसार एक दहरभिक्खु,

२. सिंहलदेशीय पाठान्तर भीय्यो।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—भावयते।

४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—ब्यन्ति।

५. डॉ० फजबोलसम्मत पाठ—एसच्छेच्छति। नालन्दा संस्करणधृत सिंहली पाठ—एस छेज्जति, किन्तु हेववितरणे विक्वेष्ट सीरीज सम्मत पाठ—'एस छेज्छति' ही है।

६. डॉ० फज़बोल धृतपाठ . अच्छिद्।

७. नालन्दासंस्करणधृत सिंहलदेशीय पाठ—अन्तिमायं है। किन्तु नवीन

[निष्ठां गतोऽसंत्रासी वीततृष्णोऽनञ्जनः ।
अच्छिनद् भवशल्यानि, अन्तिमोऽयं समुच्छ्रयः ॥ १८ ॥]

जो निष्ठा को प्राप्त हो चुका है, जो निर्भय है, जो तृष्णारहित है और जो दोषरहित है, उसने संसार के बन्धनों को काट लिया है और यह उसका अन्तिम शरीर है ॥ १८ ॥

३५२—वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो ।
अक्खरानं सन्निपातं जञ्ञा पुब्बापरानि च ।
स वे अन्तिमसारीरो महापञ्ञो महापुरिसो ति वुच्चति ॥ १९ ॥
[वीततृष्णोऽनादानो निरुक्तिपदकोविदः ।
अक्षराणां सन्निपातं जानाति पूर्वापराणि च ।
अक्षराणां सन्निपातं जानाति पूर्वापराणि च ।
स वै अन्तिमशारीरो महाप्राज्ञो महापुरुष इत्युच्यते ॥ १९ ॥]

जो तृष्णारहित है, जो परिग्रहरहित है, जो पदों की निरुक्ति करने में चतुर है, जो अक्षरों के पहले पीछे रखने को जानता है, वह निश्चय ही अन्तिम शरीर वाला और महाप्राज्ञ कहा जाता है ॥ १९ ॥

अन्तरामग्ग उपक आजीविक

३५३—सब्बाभिभू सब्बविदू'हमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो ।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं ॥२०॥
[सर्वाभिभूः सर्वविदहमस्मि सर्वेषु धर्मेष्वनुपलिप्तः ।
सर्वञ्जहः तृष्णाक्षये विमुक्तः स्वयमभिज्ञाय कमुद्दिशेयम् ॥२०॥]

मैं सबको परास्त करने वाला हूँ, मैं सब कुछ जानने वाला हूँ, मैं सभी धर्मों में अनुपलिप्त हूँ, मैं सब का त्यागने वाला हूँ, तृष्णा के क्षीण होने से मैं विमुक्त हो गया हूँ—ऐसा स्वयं को, जान लेने के पश्चात् मैं किसको अपना गुरु बतलाऊँ ॥ २० ॥

जेतवन सक्क देवराज

३५४—सब्बदानं धम्मदानं जिनाति,
सब्बरसं[1] धम्मरसो जिनाति ।
सब्बरतिं[1] धम्मरतिं[2] जिनाति

सिंहलदेशीयसंस्करण मे अन्तिमोयं पाठ मान लिया गया है। ये दोनों पाठ ही पालि व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हैं।

१. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़बोलधृत पाठ--सब्बं रसं ।

तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति ॥ २१ ॥

[सर्वदानं धर्मदानं जयति सर्वरसं धर्मरसो जयति ।
सर्वरतिं धर्मरतिर्जयति तृष्णाक्षयः सर्वदुखं जयति ॥ २१ ॥]

धर्म का दान सब दानों को जीत लेता है। धर्म का रस सब रसों को जीत लेता है। धर्म के प्रति प्रेम सब प्रेमों को जीत लेता है और तृष्णा का विनाश सब दुःखों को जीत लेता है ॥ २१ ॥

जेतवन अपुत्तक सेट्ठी

३५५—हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो चे[3]पारगवेसिनो ।
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अञ्ञेव अत्तनं ॥ २२ ॥
[घ्नन्ति भोगा दुर्मेधसं न चेत् पारगवेषिणः ।
भोगतृष्णया दुर्मेधा हन्त्यन्यमिवात्मानम् ॥ २२ ॥]

यदि मनुष्य संसार से पार जाने की इच्छा नहीं करता, तो उस दुर्बुद्धि मनुष्य को विषय भोग नष्ट कर देते हैं। भोगों की तृष्णा के द्वारा वह दुर्बुद्धि मनुष्य अपनी हत्या कर लेता है जैसे वह किसी दूसरे की हत्या करता है ॥२२॥

पण्डुकम्बलसिला अङ्कुर

३५६—तिणदोसानि खेत्तानि रागदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतरागेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥ २३ ॥
[तृणदोषाणि क्षेत्राणि रागदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतरागेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २३ ॥]

खेतों का दोष तृण है और इस प्रजा का दोष राग है। इसलिए वीतराग महात्माओं को दिया हुआ दान महाफल वाला होता है ॥ २३ ॥

३५७—तिणदोसानि खेत्तानि दोसदोसा अयं पजा ।
तस्मा हि वीतदोसेसु दिन्नं होति महप्फलम् ॥ २४ ॥
[तृणदोषाणि क्षेत्राणि द्वेषदोषेयं प्रजा ।
तस्माद्धि वीतदोषेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २४ ॥)

१. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़्बोलधृत पाठ--सब्बं रतिं ।
२. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़्बोलधृत पाठ--
३. ब्रह्मदेशीयपाठान्तर--च ।

खेतों का दोष तृण है और इस प्रजा का दोष द्वेष है। इसलिए द्वेष-विहीनों को दिया हुआ दान महाफल वाला होता है ॥ २४ ॥

३५८—तिणदोसानि खेत्तानि मोहदोसा अयं पजा।
तस्मा हि वीतमोहेसु दिन्नं होति महप्फलं ॥ २५ ॥
(तृणदोषाणि क्षेत्राणि मोहदोषेयं प्रजा।
तस्माद्धि वीतमोहेषु दत्तं भवति महाफलम् ॥ २५ ॥)

खेतों का दोष तृण है और इस प्रजा का दोष मोह है। इसलिए मोह-विहीनों को दिया हुआ दान महाफल वाला होता है ॥ २५ ॥

३५९—तिणदोसानि खेत्तानि इच्छादोसा अयं पजा।
तस्मा हि विगतिच्छेसु दिन्नं होति महप्फलम् ॥ २६ ॥
[तृणदोषाणि क्षेत्राणि इच्छादोषेयं प्रजा।
तस्माद्धि विगतेच्छुषु दत्तं भवति महाफलम्[1] ॥ २६ ॥]

खेतों का दोष तृण है और इस प्रजा का दोष इच्छा है। इसलिए इच्छा-विहीनों को दिया हुआ दान महाफल वाला होता है ॥ २६ ॥



---

१. नालन्दा संस्करण में यहाँ निम्नलिखित गाथा दिखायी पड़ती है—जो अट्ठकथासहित सिंहल तथा ब्रह्मदेशीय संस्करणों में तथा डॉ० फज़्बोल कृत संस्करण में उपलब्ध नहीं है—

तिणदोसानि खेत्तानि तण्हादोसा अयं पजा।
तस्सा हि वीततण्हेसु दिन्नं होति महप्फलम् ॥

नालन्दा संस्करण में भी टिप्पणी में इसका उल्लेख किया गया है—

'अयं गाथा अट्ठकथायं न दिस्सति'।

धम्मपद के प्रायः सभी आधुनिक टीकाकारों ने इस गाथा को छोड़ दिया है। केवल पं० मेक्समूलर ३५९ संख्यक गाथा के अनुवाद में जो "......... mankind is damaged by lust" आदि लिखते हैं, उसके आधार—'तिण्हदोसा' आदि पद हैं कि नहीं यह बात चिन्तनीय है।

भिक्खुवग्गो पञ्चवीसतिमो

(भिक्षुवर्गः पञ्चविंशः)

जेतवन पञ्च भिक्खु

३६०—चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो ।
घानेन[1] संवरो साधु साधु जिव्हाय संवरो ।। १ ।।
[चक्षुषा संवरः साधुः साधुः श्रोत्रेण संवरः ।
घ्राणेन संवरः साधुः साधुः जिह्वया संवरः ।। १ ।।]

आँखों का संयम अच्छा है। कानों का संयम अच्छा है। मन का संयम अच्छा है और जीभ का संयम अच्छा है ।। १ ।।

३६१—कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो ।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो ।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति ।। २ ।।
[कायेन संवरः साधुः साधुः वाचा संवरः ।
मनसा संवरः साधुः साधुः सर्वत्र संवरः ।
सर्वतो संवृतो भिक्षुः सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ।। २ ।।]

शरीर का संयम अच्छा है। वाणी का संयम अच्छा है। मन का संयम अच्छा है। सर्वत्र संयम करना अच्छा है। जो भिक्षु सर्वत्र संयम करता है, वह सब दुःखों से छूट जाता है ।। २ ।।

जेतवन एक हंसघातक

३६२—हत्थसंयतो[2] पादसंयतो वाचाय संयतो संयतुत्तमो ।
अज्झत्तरतो समाहितो एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं ।। ३ ।।

---

१. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़बोलधृत पाठ—घाणेन ।

२. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़बोल कृत संस्करण में इस गाथा के अन्तर्गत सभी 'संयत' पद की जगह 'सञ्ञत' ऐसा पाठान्तर उपलब्ध है ।

[हस्तसंयतः पादसंयतो वाचा संयतः संयतोत्तमः।
अध्यात्मरतः समाहित एकः सन्तुष्टस्तमाहुर्भिक्षुम् ॥ ३ ॥]

भिक्षु उसको कहा जाता है, जो हाथ तथा पैरों का संयम करता है, जो वाणी का संयम करता है, जो उत्तम रूप से संयत है, जो अध्यात्म-रत है और जो समाधियुक्त, अकेला और सन्तुष्ट है ॥ ३ ॥

जेतवन कोकालिक

३६३—यो मुखसंयतो[1] भिक्खु मन्तभाणी[2] अनुद्धतो।
अत्थं धम्मं च दीपेति मधुरं तस्स भासितं ॥ ४ ॥
[यो मुखसंयतो भिक्षुः मन्त्रभाणो अनुद्धतः।
अर्थं धर्मञ्च दीपयति मधुरं तस्य भाषितम् ॥ ४ ॥]

जो भिक्षु मुख से संयत है, जो मितभाषी और विनयशील है, वह अर्थ और धर्म को प्रकाशित करता है। उसका भाषण मधुर होता है ॥ ४ ॥

जेतवन धम्माराम थेर

३६४—धम्मारामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्खु सद्धम्मा न परिहायति ॥ ५ ॥
[धर्मारामो धर्मरतो धर्ममनुविचिन्तयन्।
धर्ममनुसरन् भिक्षुः सद्धर्मान्न परिहीयते ॥ ५ ॥]

जो भिक्षु धर्म में रमण करने वाला है, धर्म में रत रहता है, धर्म का चिंतन करता रहता है तथा धर्म का अनुसरण करता है, वह सच्चे धर्म से च्युत नहीं होता ॥ ५ ॥

---

१. सिंहलदेशीय या डॉ० फज़्बोलधृत पाठ—०सञ्ञतो।

२. टीकाकार भदन्त बुद्धघोष के मतानुसार 'मन्तभाणी' का अर्थ है 'प्रज्ञा के साथ बताने वाला'—'मन्तभाणीति मन्ता वुच्चति पञ्ञा। ताय भणनसीलो (अट्ठकथा)'। वही अर्थ आधुनिक विद्वानों का सम्मत है, द्र० फज़्बोल कृत अनुवाद में—'qui bhikkhus...........sapienter loquens........... अथवा मैक्समूलर कृत अनुवाद—'............who speaks wisely ....' पालिसाहित्य में 'वेद' के लिये 'मन्त' (मन्त्र) शब्द का प्रयोग (प्रायः बहुवचन में) दिखाई पड़ता है। 'वेद' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ज्ञान होने से क्रमशः 'मन्त' (बहुवचनान्त) भी ज्ञान या प्रज्ञा के अर्थ में रूढ हो गया है।

वेलुवन — अञ्ञतर विपक्खसेवक

३६५—सलाभं नातिमञ्ञेय्य नाञ्ञेसं पिहयं चरे।
अञ्ञेसं पिहयं भिक्खु समाधिं नाधिगच्छति ॥ ६ ॥
[स्वलाभं नातिमन्येत नान्येभ्यः स्पृहयन् चरेत् ।
अन्येभ्यः स्पृहयन् भिक्षु समाधिं नाधिगच्छति ॥ ६ ॥]

भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना न करे। वह दूसरों से ईर्ष्या करता हुआ जीवन न बितावे। दूसरों से ईर्ष्या करता हुआ भिक्षु समाधि को प्राप्त नहीं होता ॥ ६ ॥

३६६—अप्पलाभो पि चे भिक्खु सलाभं नातिमञ्ञति।
तं वे देवा पसंसन्ति सुद्धाजीविं अतन्दितं ॥ ७ ॥
[अल्पलाभोऽपि चेद् भिक्षुः स्वलाभं नातिमन्यते ।
तं वै देवाः प्रशंसन्ति शुद्धाजीवमतन्द्रितम् ॥ ७ ॥]

यदि अल्प लाभ हो तो भी भिक्षु अपने लाभ की अवहेलना नहीं करता है तो उस शुद्ध जीवन को व्यतीत करने वाले और आलस्य विहीन भिक्षु की देवता भी प्रशंसा करते हैं ॥ ७ ॥

जेतवन — पञ्चग्गदायक ब्राह्मण

३६७—सब्बसो नामरूपस्मिं यस्स नत्थि ममायितं।
असता च न सोचति स वे भिक्खु ति वुच्चति ॥ ८ ॥
[सर्वशो नामरूपयोः यस्य नास्ति ममायितम् ।
असति च न शोचति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥ ८ ॥]

नाम रूप वाले संसार में जिसकी बिलकुल ही ममता नहीं है, जो वस्तु के न रहने पर शोक नहीं करता है, वह भिक्षु कहा जाता है ॥ ८ ॥

जेतवन — सम्बहुल-भिक्खु

३६८—मेत्ताविहारी यो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं सङ्खारूपसमं सुखं ॥ ९ ॥
[मैत्रीविहारी यो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम् ॥ ९ ॥]

जो भिक्षु मैत्रीभाव से जीवन यापन करता है, जो भगवान् बुद्ध के उपदेश में प्रसन्न रहता है, वह संस्कारों को शमन करने वाले शान्त और सुखद पद को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

९—सिञ्च भिक्खु इमं नावं सित्ता ते लहुमेस्सति ।
छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानमेहिसि ।। १० ।।
[सिञ्च भिक्षो ! इमां नावं सिक्ता ते लघुत्वमेष्यति ।
छित्त्वा रागञ्च द्वेषञ्च ततो निर्वाणमेष्यसि ।। १० ।।]

हे भिक्षु ! इस नाव के जल को उलीच दो । उलीचने पर तुम्हारे लिए की हो जावेगी । तब तुम राग और द्वेष को काटकर निर्वाण को प्राप्त गे ।। १० ।।

७०—पञ्च छिन्दे पञ्च जहे पञ्च चुत्तरि भावये ।
पञ्चसङ्गातिगो भिक्खु ओघतिण्णो ति वुच्चति ।। ११ ।।
[पञ्च छिद्यात् पञ्च जह्यात् पञ्चातरं भावयेत् ।
पञ्चसंगातिगा भिक्षुः ओघतीर्ण इत्युच्यते ।। ११ ।।]

पाँच को काट दो त्याग दो, पाँच की भावना करो । पाँच का संग छोड़ने ला भिक्षु ओघतीर्ण (संसार की बाढ़ को पार करने वाला) कहा ता है ।। ११ ।।

७१—झाय भिक्खु मा च[1] पमादो मा ते कामगुणे भमस्सु[2] चित्तं ।
मा लोहगुलं[3] गिलो पमत्तो मा कुन्दि दुक्खमिदं ति दय्हमानो[4] ।
[ध्याय भिक्षो ! मा च प्रमादः
मा ते कामगुणे भ्रमतु चित्तम् ।
मा लोहगोलं गिल प्रमत्तः
मा क्रन्दीः दुःखमिदमिति दह्यमानः ।। १२ ।।]

हे भिक्षु ! ध्यान करो, प्रमाद मत करो । तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में पड़े । प्रमत्त होकर तुम लोहे के गोले को मत निगलो । संसार की अग्नि में ते हुए, 'यह दुःख है' ऐसा क्रन्दन मत करो ।। १२ ।।

७२—नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अज्झायता ।
यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके ।। १३ ।।

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठमें 'च' पद नहीं है ।
२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर–रमेस्सु, डॉ० फजुबोलसम्मत पाठ—भवस्सु ।
३. ब्रह्मदेशीय तथा डॉ० फज़बोलधृत पाठ—लोहगुळं ।
४. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़बोलधृत पाठ – डय्हमानो ।

[नास्ति ध्यानमप्रज्ञस्य प्रज्ञा नास्त्यध्यायतः।
यस्मिन् ध्यानञ्च प्रज्ञा च स वै निर्वाणस्यान्तिके ॥ १३ ॥]

प्रज्ञाविहीन का ध्यान नहीं होता। ध्यान न करने वाले की प्रज्ञा नहीं होती। जिसमें ध्यान और प्रज्ञा है, वह निर्वाण के समीप है ॥ १३ ॥

३७३—सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो।
अमानुसी रती[1] होति सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥ १४ ॥
[शून्यागारं प्रविष्टस्य शान्तचित्तस्य भिक्षोः।
अमानुषी रतिर्भवति सम्यग् धर्मं विपश्यतः ॥ १४ ॥]

जो भिक्षु घर में अकेला रहता है, शान्त-चित्त है और सम्यक् धर्म का साक्षात्कार करता है, उसे अमानवीय आनन्द प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

३७४—यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं।
लभति पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ॥ १५ ॥
[यतो यतः संमृशति स्कन्धानामुदयव्ययम्।
लभते प्रीतिप्रामोद्यममृतं तद् विजानताम् ॥ १५ ॥]

मनुष्य जैसे-जैसे शरीर के तत्वों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वैसे-वैसे वह ज्ञानियों के प्रेम और प्रमोद के अमृतमय आनन्द को प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

३७५—तत्रायमादि भवति इध पञ्ञस्स भिक्खुनो।
इन्द्रियगुत्ति[2] सन्तुट्ठि[3] पातिमोक्खे च संवरो ॥ १६ ॥
[तत्रायमादिर्भवतीह प्राज्ञस्य भिक्षोः।
इन्द्रियगुप्तिः सन्तुष्टिः प्रातिमोक्षे च संवरः ॥ १६ ॥]

यहाँ प्राज्ञ भिक्षु के लिए यह सर्वप्रथम आवश्यक है—इन्द्रिय संयम, सन्तोष, भिक्षु के आचरण में संयम ॥ १६ ॥

३७६—मित्त भजस्सु कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते।
पटिसंथारवुत्तस्स[4] आचारकुसला सिया।

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—रति।
२. डॉ० फज़बोलधृत पाठ—इन्द्रियगुत्ती।
३. डॉ० फज़बोलधृत पाठ—सन्तुट्ठी।
४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—पटिसन्तारवुत्यस्स।

ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति ॥ १७ ॥
[मित्राणि भजस्व कल्याणानि शुद्धाजीवान्यतन्द्रितानि[1] ।
प्रति संस्तारवृत्तः स्यात् आचारकुशलः स्यात् ।
ततः प्रामोद्यबहुलो दुःखस्यान्त करिष्यति ॥ १७ ॥]

विशुद्ध जीविका वाले, आलस-विहीन और कल्याण करने वाले मित्रों की संगति कर। तू सेवा-सत्कार की वृत्ति वाला बन और व्यवहार में कुशल बन। तब तू बहुत आनन्द को प्राप्त करके दुःख का अन्त कर लेगा ॥ १७ ॥

जेतवन पञ्चसत भिक्खु

३७७—वस्सिका विय पुप्फानि मद्दवानि पमुञ्चति ।
एवं रागञ्च दोसञ्च विप्पमुञ्चथ भिक्खवो ॥ १८ ॥
[वर्षिका इव पुष्पाणि मृदूनि प्रमुञ्चति ।
एवं रागञ्च द्वेषञ्च विप्रमुञ्चत भिक्षवः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार जुही अपने कोमल फूलों को गिरा देती है, उसी प्रकार हे भिक्षुओ ! तुम राग और द्वेष को छोड़ दो ॥ १८ ॥

जेतवन सन्तकाय थेर

३७८—सन्तकायो सन्तवाचो सन्तमनो[2] सुसमाहितो ।
वन्तलोकमिसो भिक्खु उपसन्तो ति वुच्चति ॥ १९ ॥
[शान्तकायो शान्तवाक् शान्तमनाः सुसमाहितः ।
वान्तलोकामिषो भिक्षुः उपशान्त इत्युच्यते ॥ १९ ॥]

उस भिक्षु को उपशान्त कहा जाता है, जो शरीर में शान्त होता है, जो वाणी में शान्त होता है, जो शान्तिमय और समाहित चित्तवाला होता है, और जिसने सांसारिक प्रलोभनों को त्याग दिया है ॥ १९ ॥

---

१. डॉ० फज़बोल इस गाथार्ध को पूर्ववर्ती गाथा के साथ जोड़ दिए हैं। मैक्समूलर ने अपने अनुवाद में उसी योजना को मान लिया है और राहुल सांकृत्यायन आदि आधुनिक विद्वानों ने भी उसी क्रम से पाठ की योजना की है। किन्तु वह पाठक्रम सिंहल तथा ब्रह्मदेशीय परम्परा के विरुद्ध है।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—सन्तवा। सिंहलदेशीय (हेववितरणे संस्करण) में भी वही पाठ है। 'सन्तवा' यह पाठ डॉ० फज़बोल का भी सम्मत है।

जेतवन

नङ्गलकुल थेर

३७९—अत्तना चोदयत्तानं पटिमासे अत्तमत्तना[1]।
सो अत्तगुत्तो सतिमा सुक्खं भिक्खु विहाहिसि ॥ २० ॥
[आत्मना चोदयेदात्मानं प्रतिवसेदात्मानमात्मना ।
स आत्मगुप्तः स्मृतिमान् सुखं भिक्षो विहरिष्यसि ॥ २० ॥]

अपने द्वारा अपने को प्रेरित करो। अपने द्वारा अपने को संलग्न करो। इस प्रकार अपने द्वारा सुरक्षित किए गए और स्मृतियुक्त भिक्षु तुम सुख से विहार करोगे ॥ २० ॥

३८०—अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति ।
तस्मा संयमयत्तानं[2] अस्सं भद्रं व वाणिजो ॥ २१ ॥
[आत्मा ह्यात्मनो नाथः आत्मा ह्यात्मनो गतिः ।
तस्मात् संयमयात्मानं अश्वं भद्रमिव वाणिजः ॥ २१ ॥]

आत्मा स्वयं ही आत्मा का स्वामी है और आत्मा स्वयं ही आत्मा की गति है, इसलिए जिस प्रकार वैश्य अपने भले घोड़े को संयत रखता है, उसी प्रकार तुम अपनी आत्मा को संयत रखो ॥ २१ ॥

जेतवन[3]

वक्कलि थेर

३८१—पामोज्जबहुलो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने ।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं ॥ २२ ॥
[प्रामोद्यबहुलो भिक्षुः प्रसन्नो बुद्धशासने ।
अधिगच्छेत् पदं शान्तं संस्कारोपशमं सुखम् ॥ २२ ॥]

जो भिक्षु बहुत प्रमोद को प्राप्त करने वाला है, जो भगवान् बुद्ध के उपदेश में प्रसन्न रहता है, वह शान्त, संस्कारों का उपशमन करने वाले तथा सुखकारी पद को प्राप्त करता ॥ २२ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—पटिमंसेथ अत्तना ।
सिंहलदेशीय पाठान्तर—पटिमासेथ अत्तना ॥

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर— संयममत्तानं ।
सिंहलदेशीय पाठान्तर––सञ्जमयत्तानं ।
डॉ० फज़्बोलधृत पाठ—सञ्ञामयत्तानं ॥

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—वेळुवन ।

पुब्बारामे सुमन सामनेर

३८२—यो हवे दहरो भिक्खु युञ्जति बुद्धशासने।
सो इमं[1] लोके पभासेति अब्भा मुत्तोव चन्दिमा ॥ २३ ॥
[यो ह वै दहरो भिक्षुः युनक्ति बुद्धशासने।
स इमं लोकं प्रभासत्यभ्रात् मुक्त इव चन्द्रमाः ॥ २३ ॥]

जो भिक्षु युवावस्था ही में भगवान् बुद्ध के उपदेश में संलग्न हो जाता है, वह इस संसार को इस प्रकार प्रकाशित करता है जिस प्रकार बादलों से मुक्त हुआ चन्द्रमा प्रकाशित करता है ॥ २३ ॥

—:०:—

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—सो'मं।

ब्राह्मणवग्गो छब्बीसतिमो

(ब्राह्मणवर्गः षड्विंशः)

जेतवन

पसाद बहुल

३८३—छिन्द सोतं परक्कम्म कामे पनुद ब्राह्मण।
सङ्खारानं खयं ञत्वा अकतञ्ञूसि ब्राह्मण ॥ १ ॥
[छिन्धि स्रोतः पराक्रम्य कामान् प्रणुद ब्राह्मण।
संस्काराणां क्षयं ज्ञात्वाऽकृतज्ञोऽसि ब्राह्मण ॥ १ ॥]

हे ब्राह्मण ! प्रयत्न करके तृष्णा के स्रोत को काट दो और कामनाओं को भगा दो। हे ब्राह्मण संस्कारों के विनाश को जानकर तुम अकृत (अनश्वर निर्वाण) को जानने वाले हो जाओगे ॥ १ ॥

जेतवन

सम्बहुल भिक्खु

३८४—यदा द्वयेसु धम्मेसु पारगू होति ब्राह्मणो।
अथस्स सब्बे संयोगा अत्थं गच्छन्ति जानतो ॥ २ ॥
[यदा द्वयोर्धर्मयोः पारगो भवति ब्राह्मणः।
अथास्य सर्वे संयोगा अस्तं गच्छन्ति जानतः ॥ २ ॥]

जब ब्राह्मण दोनों धर्मों में पारंगत हो जाता है, तब इस ज्ञानवान् के सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

जेतवन

मार

३८५—यस्स पारं अपारं वा पारापारं न विज्जति।
वितद्दरं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३ ॥
[यस्य पारमपारं वा पारापारं न विद्यते।
वितदरं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥]

जिसके लिए न यह पार है और न वह पार है, दोनों ही पार नहीं है—उस निर्भय तथा अनासक्त मनुष्य को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३ ॥

जेतवन अञ्ञतर ब्राह्मण

३८६—झायिं विरजमासीनं कतकिच्चमनासवं।
उत्तमत्थमनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ४ ॥
[ध्यायिनं विरजमासीनं कृत-कृत्यमनास्रवम् ।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ४ ॥]

जो ध्यान करने वाला है, जो रजोगुण रहित है, जो स्थिर आसन है, जो कृतकृत्य है और जो चित्त के मैल से रहित है, उस उत्तम स्थिति को प्राप्त किए हुए मनुष्य को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ४ ॥

मिगार मातु पासाद आनन्द थेर

३८७—दिवा तपति आदिच्चो रत्तिमाभाति चन्दिमा ।
सन्नद्धा खत्तियो तपति झायी तपति ब्राह्मणो ।
अथ सब्बमहोरत्तिं बुद्धो तपति तेजसा ॥ ५ ॥
[दिवा तपत्यादित्यो रात्रावाभाति चन्द्रमाः ।
सन्नद्धः क्षत्रियस्तपति ध्यायी तपति ब्राह्मणः ।
अथ सर्वमहोरात्रं बुद्धस्तपति तेजसा ॥ ५ ॥]

दिन में सूर्य तपता है, रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशित होता है। कवचबद्ध हुआ क्षत्रिय तपता है और ध्यान करने वाला ब्राह्मण भी तपता है। और बुद्ध अपने तेज से दिन-रात तपता है ॥ ५ ॥

जेतवन अञ्ञतर ब्राह्मण

३८८—बाहितपापोति ब्राह्मणो समचरिया समणोति वुच्चति ।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितोति वुच्चति ॥ ६ ॥
[वाहितपाप इति ब्राह्मणः समचर्यः श्रमण इत्युच्यते ।
प्रव्राजयन्नात्मनो मलं तस्मात् प्रव्रजित इत्युच्यते ॥ ६ ॥]

जिसने पाप को बहा दिया है वह ब्राह्मण है। जो समता का आचरण करता है वह श्रमण है। और जो अपने चित्त के मैल को हटाता है वह प्रव्रजित कहा जाता है ॥ ६ ॥

जेतवन सारिपुत्त थेर

३८९—न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो ।
धी[१] ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धी[१] यस्स मुञ्चति ॥ ७ ॥

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—धि ।

[न ब्राह्मणं प्रहरेन्नास्मै मुञ्चेद् ब्राह्मणः ।
धिग् ब्राह्मणस्य हन्तारं ततो धिग् यस्मै मुञ्चति ॥ ७ ॥]

ब्राह्मण पर कोई प्रहार न करे और ब्राह्मण इस प्रहारकर्ता पर प्रहार न करे। ब्राह्मण पर प्रहार करने वाले को धिक्कार है और जो उस पर प्रहार करता है उसे भी धिक्कार है ॥ ७ ॥

३९०—न ब्राह्मणस्सेतदकिञ्चि सेय्यो यदा निसेधो मनसो पियेहि ।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति ततो ततो सम्मतिमेव दुक्खं ॥८॥
[न ब्राह्मणस्यैतदकिञ्चित् श्रेयः यदा निषेधो मनसा प्रियेभ्यः ।
यतो यतो हिंस्रमनो निवर्तते ततस्ततः शाम्यत्येव दुःखम् ॥८॥]

ब्राह्मण के लिए यह बात कम श्रेयस्कर नहीं है, जो कि वह प्रिय वस्तुओं से मन को दूर कर लेता है ; जहाँ-जहाँ से हिंसक मन निवृत्त हो जाता है, वहाँ-वहाँ से दुःख भी शान्त हो जाता है ॥ ८ ॥

जेतवन महापजापति गोतमी

३९१—यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं[1] ।
संवुतं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ९ ॥
[यस्य कायेन वाचा मनसा नास्ति दुष्कृतम् ।
संवृतं त्रिभिः स्थानैः तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥]

जिसके शरीर, वाणी और मन से दुष्कृत नहीं होते और जो तीनों स्थानों पर संयत है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ९ ॥

जेतवन सारिपुत्त थेर

३९२—यम्हा धम्मं विजानेय्य सम्मासं बुद्धदेसितं ।
सक्कच्चं तं नमस्सेय्य अग्गिहुत्तं व ब्राह्मणो ॥ १० ॥
[यस्माद् धर्मं विजानीयात् सम्यक् सम्बुद्धदेशितम् ।
सत्कृत्य तं नमस्येदग्निहोत्रमिव ब्राह्मणः ॥ १० ॥]

जिससे सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्मका ज्ञान प्राप्त करे, मनुष्य सत्कार करके उसे उसी प्रकार नमस्कार करे जिस प्रकार ब्राह्मण यज्ञ की अग्नि को नमस्कार करता है ॥ १० ॥

जेतवन एक जटिल ब्राह्मण

३९३—न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुखी सो च ब्राह्मणो ॥ ११ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—दुक्कटं ।

[न जटाभिर्न गोत्रेण न जात्या भवति ब्राह्मणः ।
यस्मिन् सत्यञ्च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ॥ ११ ॥]

न जटाओं से, न गोत्र से और न जन्म से मनुष्य ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य और धर्म हैं, वह शुद्ध है और वही ब्राह्मण है ॥ ११ ॥

कूटागारसाला

एक वग्गुलिवत कुहक ब्राह्मण

३९४—किं ते जटाहि दुम्मेध किं ते अजिनसाटिया ।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि ॥ १२ ॥
[किं ते जटाभिः दुर्मेध ! किं ते अजिनशाट्या ।
अभ्यन्तरं ते गहनं बाह्यं परिमार्जयसि ॥ १२ ॥]

हे दुर्बुद्धि ! तेरा जटाएँ धारण करने से तथा मृगचर्म पहिनने से क्या ? तेरा भीतर का भाग (हृदय) अन्धकार से पूर्ण है, बाहर क्या धोता है ॥१२॥

गिज्झकूट पब्बत

किसा गोतमो

३९५—पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं ।
एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १३ ॥
[पांशुकूलधरं जन्तुं कृशं धमनिसन्ततम् ।
एकं वने ध्यायन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १३ ॥]

जो फटे पुराने वस्त्रों को धारण करता है, जो कृश है और जिसकी नसें दिखाई देती हैं, जो वन में अकेला ध्यान करता रहता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ॥ १३ ॥

जेतवन

एक ब्राह्मण

३९६—न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसंभवं ।
भोवादी नाम सो होति सचे होति सकिञ्चनो ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १४ ॥
[न चाहं ब्राह्मणं ब्रवीमि योनिजं मातृसंभवम् ।
भोवादी नाम स भवति स वै भवति सकिंचनः ।
अकिञ्चनमनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥]

केवल ब्राह्मण की योनि माता से उत्पन्न हुए मनुष्य को मैं ब्राह्मण नहीं कहता । वह संग्रह करने वाला है और 'भो' शब्द से संबोधन करने के योग्य

है। पर जो अकिंचन है और लेने की इच्छा नहीं करता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ॥ १४ ॥

वेळुवन उग्गसेन सेट्ठिपुत्त

३९७—सब्बसंयोजनं छेत्वा यो वै न परितस्सति।
सङ्गातिग विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १५ ॥
[सर्वसंयोजनं छित्त्वा यो वै न परित्रस्यति।
सङ्गातिगं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १५ ॥]

सब बन्धनों को काटकर जो कभी भयभीत नहीं होता है, जो विषयों की संगति से विमुक्त हो गया है और जो अनासक्त है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ॥ १५ ॥

जेतवन द्वे ब्राह्मण

३९८—छेत्वा नन्दि[1] वरत्तं च सन्दानं[2] सहनुक्कमं।
उक्खित्त पळिघं[3] बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १६ ॥
[छित्वा नन्दि वरत्राञ्च सन्दानं सहनुक्रमम्।
उत्क्षिप्तपरिघं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥]

जिसने नन्दी (क्रोध) तृष्णा रूपी वरत्रा (रस्सी), सन्दान (बन्धन), हनुक्रम (मुख पर बाँधने का वस्त्र) काट दिया है तथा जिसने संसार की शृंखला को फेंक दिया है, ऐसे प्रबुद्ध मनुष्य को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ १६ ॥

वेळुवन अक्कोसकभारद्वाज

३९९—अक्कोसं वधवन्धं च अदुट्ठो यो तितिक्खति।
खन्तीबलं[4] बलानीकं[5] तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १७ ॥
[आक्रोशं वधबन्धञ्चादुष्टो यस्तितिक्षति।
क्षान्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥]

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर–नंद्धि । सिंहलदेशीय पाठान्तर=नन्धि
२. सिंहलदेशीय पाठान्तर—सन्दाम ।
३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—पलिघं ।
४. सिंहलदेशीय तथा डॉ॰ फज़बोलसम्मत पाठ—खन्तिबलं ।
५. सिंहलदेशीय पाठान्तर—बलाणीकं ।

जो मनुष्य बिना दूषित चित्त किए हुए अपशब्द, वध और बन्धन को सहन कर लेता है, क्षमा जिसका बल है, और वह जिसकी सेना है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ १७ ॥

वेळुवन

सारिपुत्त थेर

४००—अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सुतं[1] ।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १८ ॥
[अक्रोधनं व्रतवन्तं शीलवन्तमनुश्रुतम् ।
दान्तमन्तिमशारीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १८ ॥]

जो क्रोध नहीं करता, जो व्रतवान् है, जो शीलवान् और बहुश्रुत है, जो जितेन्द्रिय है और जिसका यह शरीर अन्तिम है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ ॥ १८ ॥

जेतवन

उप्पलवण्णा थेरी

४०१—वारि पोक्खरपत्ते व आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिम्पति[2] कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ १९ ॥
[वारि पुष्करपत्र इवाराग्रे इव सर्षपः ।
यो न लिप्यते कामेषु तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ १९ ॥]

जिस प्रकार कमल के पत्ते पर जल होता है, और जिस प्रकार आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है, उसी प्रकार जो कामनाओं में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ १९ ॥

जेतवन

अञ्ञतर ब्राह्मण

४०२—यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो ।
पन्नभारं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २० ॥
[यो दुःखस्य प्रजानातीहैव क्षयमात्मनः ।
पन्नभारं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २० ॥]

जो अपने दुःख का विनाश नहीं जान लेता है, जिसने भार को उतार दिया है और जो आसक्ति रहित है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २० ॥

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—अनुस्सदं ।
२. सिंहलदेशीय तथा डॉ० फज़्बोलसम्मत पाठ—लिम्पति ।

गिज्झकूट पब्बत खेमा भिक्खुनी

४०३—गम्भीरपञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २१ ॥
[गम्भीरप्रज्ञं मेधाविनं मार्गामार्गस्य कोविदम् ।
उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २१ ॥]

जो गम्भीर प्रज्ञा वाला है, मेधावी है, मार्ग और अमार्ग का ज्ञाता है और जिसने उत्तम अर्थ को प्राप्त कर लिया है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥२१॥

जेतवन पब्भारवासी तिस्स थेर

४०४—असंसट्ठं महट्ठेहि अनागारेहि चूभयं ।
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २२ ॥
[असंसृष्टं गृहस्थैरनागारैश्चोभाभ्याम् ।
अनोकःसारिणमल्पेच्छं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २२ ॥]

जो गृहस्थों और गृहविहीनों दोनों से अनासक्त है, जो बिना ठिकाने के घूमता रहता है और जो कम इच्छाओं वाला है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २२ ॥

जेतवन अञ्ञतर भिक्खु

४०५—निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च ।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २३ ॥
[निधाय दण्डं भूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च ।
यो न हन्ति न घातयति तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २३ ॥]

जो चर और अचर प्राणियों में दण्ड का प्रयोग नहीं करता है, जो न मारता है और न मारने को प्रेरित करता है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २३ ॥

जेतवन चत्तारो सामणेर

४०६—अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं ।
सादानेसु अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २४ ॥
[अविरुद्धं विरुद्धेषु, आत्तदण्डेषु निर्वृतम् ।
सादानेष्वनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २४ ॥]

जो विरोधियों के बीच में विरोध नहीं करता, जो दण्डधारियों के बीच दण्ड नहीं उठाता और संग्रह करने वालों के बीच जो सग्रही नहीं है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २४ ॥

वेळुवन महापन्थक

४०७—यस्स रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो ।
सासपोरिव आरग्गा[1] तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २५ ॥
[यस्स रागश्च द्वेषश्च मानो म्रक्षश्च पातितः ।
सर्षप इवाराग्रात् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २५ ॥]

जिसके राग, द्वेष, मान तथा दम्भ इस प्रकार गिरे हैं, जैसे आरे की नोक से सरसों के दाने गिर पड़ते हैं—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २५ ॥

वेळुवन पिलिन्दवच्छ थेर

४०८—अकक्कसं विञ्ञापनिं[2] गिरं सच्चमुदीरये ।
याय नाभिसजे कञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २६ ॥
[अकर्कशां विज्ञापनीं गिरं सत्यामुदीरयेत् ।
यथा नाभिषजेत् किंचित् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २६ ॥]

जो आकर्षक, ज्ञानवर्धक और सत्य वाणी बोलता है, जिससे किसी को पीड़ा नहीं पहुँचती, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २६ ॥

जेतवन अञ्ञतर थेर

४०९—यो'ध दीघं वा रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं ।
लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २७ ॥
[य इह दीर्घं वा ह्रस्वं वाऽणुं स्थूलं शुभाशुभम् ।
लोकेऽदत्तं नादत्ते तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २७ ॥]

जो इस संसार में न दी गई वस्तु को, चाहे वह दीर्घ हो या ह्रस्व हो चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म हो तथा चाहे शुभ हो या अशुभ हो, ग्रहण नहीं करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २७ ॥

जेतवन सारिपुत्त थेर

४१०—आसा यस्य न विज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च ।
निरासयं[3] विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २८ ॥

---

१. प्राचीन ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—आरग्गे (छट्ठसंगायन संस्करण में 'आरग्गा' पाठ ही है ।

२. प्राचीन ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—विञ्ञापिनि (छट्ठसङ्गायन संस्करण में विञ्ञापनिं पाठ ही है) ।

३. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—निरासासं ।

[आशाः यस्य न विद्यन्तेऽस्मिन् लोके परस्मिन् च ।
निराशयं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २८ ॥]

जिसकी इस लोक में तथा परलोक में आशाएँ नहीं हैं, जो आशारहित और अनासक्त है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २८ ॥

जेतवन महामोग्गल्लान थेर

४११—यस्सालया न विज्जन्ति अञ्ञाय अकथङ्कथी ।
अतमोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ २९ ॥
[यस्यालया न विद्यन्ते आज्ञायाकथं कथी ।
अमृतागाधमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ २९ ॥]

जिसकी किसी वस्तु में संलग्नता नहीं है, जो जानकर संशय रहित हो गया है और जो अगाध अमृतत्व को पा चुका है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ २९ ॥

पुब्बाराम रेवत थेर

४१२—यो' ध पुञ्ञञ्च पापञ्च उभोसङ्गमुपच्चगा ।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३० ॥
[य इह पुण्यञ्च पापञ्चोभयोः संगमुपात्यगात् ।
अशोकं विरजं शुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३० ॥]

जो यहाँ पुण्य और पाप—दोनों के संग से अलग हो चुका है, जो शोक-रहित, रजोगुण-रहित और शुद्ध है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३० ॥

जेतवन चन्दाभ थेर

४१३—चन्दं व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं ।
नन्दीभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३१ ॥
[चन्द्रमिव विमलं शुद्धं विप्रसन्नमनाविलम् ।
नन्दीभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३१ ॥]

जो चन्द्रमा के समान निर्मल, शुद्ध, प्रसन्न और निष्कलंक है और जिसकी सभी जन्मों की तृष्णा नष्ट हो गई है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३१ ॥

कुण्डकोलिय (कुण्डधानवन) सीवलि थेर

४१४—यो इमं[1] पळिपथं[2] दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो[3] झायी अनेजो अकथंकथी।
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३२ ॥
[य इमं प्रतिपथं दुर्गं संसारं मोहमत्यगात्।
तीर्णः पारगतो ध्याय्यनेजोऽकथं कथी।
अनुपादाय निर्वृतः तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३२ ॥]

जिसने इस दुर्गम संसार के मोहपूर्ण उलटे रास्ते को पार कर लिया है, पार करके जो उस पार पहुँच गया है, जो ध्यान करने वाला है, पाप-रहित है और संशय-विहीन है; तथा जो अनासक्त और निवृत्त है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३२ ॥

जेतवन सुन्दरसमुद्द थेर

४१५—यो' ध कामे पहत्वान[4] अनागारो परिब्बजे।
कामभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३३ ॥
[य इह कामान् प्रहायानागारः परिव्रजेत्।
कामभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३३ ॥]

जो यहाँ कामनाओं का परित्याग करके गृहहीन होकर प्रव्रजित हो जाता है, जिसमें जन्म लेने का कामना क्षीण हो चुकी है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३३ ॥

वेळुवन जोतिकथेर

४१६—यो' ध तण्हं पहत्वान[4] अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[5] ॥ ३४ ॥

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—योमं।

२. ब्रह्मदेशीय तथा डॉ० फज़बोलसम्मत पाठान्तर—पलिपथं।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—पारङ्गतो।

४. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—पाहन्त्वान।

५ यह गाथा अट्ठकथा में दो बार आई है। अट्ठकथा ब्रह्मदेशीय पाठ के अनुसार प्रथम बार गाथा का पात्र जटिल थेर था और द्वितीय बार जोतिक थेर। मुद्रित सिंहली पाठ में दो बार पात्र का नाम जोतिक थेर लिखित है जो

[य इह तृष्णां प्रहायानागारः परिव्रजेत् ।
तृष्णाभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३४ ॥]

जो यहाँ तृष्णा का परित्याग करके, गृहहीन होकर प्रव्रजित हो जाता है, जिसमें जन्म लेने की तृष्णा क्षीण हो चुकी है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३४ ॥

बेळुवन एक नटपुत्तक

४१७—हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा ।
सब्बयोगविसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३५ ॥
[हित्वा मानुषिकं योगं दिव्यं योगमुपात्यगात् ।
सर्वयोगविसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३५ ॥]

जो मानुषिक वस्तुओं की आसक्ति को त्याग कर दिव्य वस्तुओंकी आसक्ति से भी दूर हो गया है, जो सब प्रकार की आसक्तियों से छूट चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३५ ॥

वेळुवन एकनटपुत्तक

४१८—हित्वा रतिञ्च अरतिंच सीतिभूतं निरूपधिं ।
सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् ॥ ३६ ॥
[हित्वा रतिञ्चारतिञ्च शीतीभूतं निरूपधिम् ।
सर्वलोकाभिभुवं वीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३६ ॥]

जो अनुराग और विराग दोनों को त्याग कर शान्तस्वभाव हो चुका है, जो क्लेश रहित है और जो सब लोकों का विजेता वीर है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ३६ ॥

जेतवन वङ्गीस थेर

४१९—चुतिं यो वेदि सत्तानं उप्पत्तिञ्च[1] सब्बसो ।
असत्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ३७ ॥
[च्युतिं यो वेद सत्त्वानामुत्पत्तिञ्च सर्वशः ।
असक्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३७ ॥]

स्पष्टतः मुद्रण प्रमाद मात्र है, क्योंकि वहीं पाठ में पहले बार आई हुई गाथा को व्याख्यान के अन्त में 'जटिलस्स वत्थु' लिखित दिखाई पड़ता है ।

१. सिंहलदेशीय पाठान्तर—उप्पत्तिञ्चेव ।

जो प्राणियों के विनाश और उत्पत्ति को अच्छी तरह जानता है, आसक्ति-रहित, सुगत और बुद्ध है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।। ३८ ।।

४२०—यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धब्बमानुसा ।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। ३८ ।।
[यस्य गतिं न जानन्ति देवा गन्धर्वमानुषाः ।
क्षीणास्रवमर्हन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।। ३८ ।।]

जिसकी गति को देवता, गन्धर्व और मनुष्य नहीं जानते हैं जिसके आस्रव क्षीण हो चुके हैं और जो अर्हत् है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।। ३८ ।।

वेळुवन धम्मदिन्ना नाम भिक्खुनी

४२१—यस्य पुरे च पच्छा च मज्झे च नत्थि किञ्चनं ।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। ३९ ।।
[यस्स पुरश्च पश्चाच्च मध्ये च नास्ति किञ्चन ।
अकिञ्चनमनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।। ३९ ।।]

जिसके अतीत में, भविष्य में और वर्तमान में किसी वस्तु में आसक्ति नहीं है, जो अकिञ्चन है और अपरिग्रह है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।। ३९ ।।

जेतवन अङ्गुलिमाल थेर

४२२—उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं ।
अनेजं नहातकं[1] बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। ४० ।।
[ऋषभं प्रवरं वीरं महर्षिं विजितवन्तम् ।
अनेजं स्नातकं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ।। ४० ।।]

जो मनुष्यों में श्रेष्ठ है, प्रवर है, वीर है, महर्षि है, वासनाओं का विजेता है, निष्पाप, स्नातक और बुद्ध है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ ।। ४० ।।

जेतवन देवङ्गिक ब्राह्मण[2]

४२३—पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापायञ्च पस्सति ।
अथो जातिक्खयं पत्तो अभिञ्ञावोसितो मुनि ।
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।। ४१ ।।

---

१. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—न्हातकं ।

२. ब्रह्मदेशीय पाठान्तर—देवहितब्राह्मण ।

[पूर्वनिवासं यो वेद स्वर्गापायञ्च पश्यति ।
अथ जातिक्षयं प्राप्तोऽभिज्ञाव्यसिती मुनिः ।
सर्वव्यवसितावसानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ४१ ॥]

जो अपने पूर्व जन्म को जानता है, जो स्वर्ग और नरक को देखता है, जिसके जन्म क्षय को प्राप्त हो चुके हैं, और जो अभिज्ञा में परायण है, ऐसे पूर्ण ज्ञान में पूर्णता को प्राप्त हुए मुनि को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥ ४१ ॥

—:०:—

विशेष-शब्दानुक्रमणिका

(संख्याएँ गाथाङ्क सूचित करती हैं ।)

गाथा-सूची

——

पारिभाषिक शब्दकोश

अकिञ्चन=राग, द्वेष और मोह से रहित।

अनुसय=अनुशय=कामराग (भोगतृष्णा), भवराग (संसार में जन्म लेने की तृष्णा), प्रतिघ (प्रतिहिंसा), मिथ्यादृष्टि (उल्टी धारणा), विचिकित्सा (सन्देह), मान (अभिमान) और अविद्या।

अरिय=स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्।

आभस्सर=आभास्वर=रूप लोक की, जहाँ के प्राणियों का शरीर प्रकाशमय है, एक देव जाति।

आयतन=आँख, कान, नाक, जीभ, काया और मन—ये छह भीतरी आयतन हैं। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म--ये छह बाहरी आयतन हैं।

आस्रव=मल या मैल=ये चार हैं—कामस्रव (भोग सम्बन्धी मल), भवास्रव (विभिन्न लोकों में जन्म लेने का लोभ), दृष्ट्यास्रव (उल्टी धारणा रूपी मल), अविद्यास्रव (अविद्यारूपी मल)।

इन्द्रकील=प्राचीन काल में नगर के द्वार के ठीक सामने पत्थर का एक बहुत बड़ा स्तम्भ खड़ा किया जाता था, जिससे आक्रमण के समय शत्रु उसे तोड़ नहीं सकते थे। यह दृढ़ होता था। इसलिए स्थिरता की उपमा इससे दी जाती है।

उपधि=उपाधि=स्कन्ध, काम, क्लेश और कर्म।

ऊर्ध्वस्रोत=यह अनागामी नामक अरिय की अवस्था है। मनुष्य मानव योनि से जाकर उच्च से उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त होता हुआ निर्वाण प्राप्त करता है।

ऋजुभूत=कुटिलता विहीन मानव। स्रोतापन्न से अर्हत् तक का यह नाम है।

कायगता स्मृति—शरीर में स्थित गन्दगी एवं बुराइयों के विषय में स्मरण। इन्हें स्मरण करने से वैराग्य उत्पन्न होता है।

खन्ध=स्कन्ध=रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

छत्तीस स्रोत=ज्ञान प्राप्त करने के मनुष्य के शरीर के छत्तीस स्रोत। इनमें छह आन्तरिक हैं—आँख, कान, नाक, जीभ, काया और मन। छह बाह्य हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म। ये बारहों काम, भय तथा विभव के लिए प्रत्यनशील होने से छत्तीस हैं।

थेर=स्थविर=बौद्ध भिक्षु।

थेरी=स्थविरा=बौद्ध भिक्षुणी।

नाम रूप = वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान---नाम हैं। रूप की एक ही अवस्था रूप है।

निर्वाण=दुःखों; राग, द्वेष, मोह, तथा जन्म, जरा, व्याधि एवं मृत्यु से छुटकारा मिलने की स्थिति निर्वाण है।

पातिमोक्ख=प्रातिमोक्ष=भगवान् बुद्ध ने विनयपटिक में भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए पाराजिक, संघादिसेस आदि नियमों के पालन का आदेश दिया है। प्रत्येक भिक्षु व भिक्षुणी का कर्तव्य उन्हें पालन करना है। इन्हीं नियमों को पातिमोक्ख कहते हैं।

मार=राग, द्वेष, मोह आदि मन की कुप्रवृत्तियों को मार कहा गया है। वह तीन प्रकार का है----क्लेशमार, मृत्युमार और देवपुत्रमार।

रूपक के तरीके पर इसे देवता माना गया है और यह देवता शुभ कार्यों में विघ्न उत्पन्न करने वाला है।

मार्ग=इसे अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। ये बौद्ध धर्म के साधन पथ हैं।

शैक्ष्य=उन व्यक्तियों को शैक्ष्य कहा जाता है जो अभी अर्हत् पद को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे स्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी हैं। शैक्ष्य का अर्थ है---शिक्षणीय—इन्हें शिक्षा प्राप्त करना है।

श्रामणेर=सामाणेर=वह बौद्ध साधु जो भिक्षु होने का उम्मेदवार है, पर भिक्षु संघ ने अभी उसे दीक्षित नहीं किया है।

संयोजन=सत्कायदृष्टि (काया में एक नित्य चेतन की कल्पना करना) विचिकित्सा (सन्देह), शील व्रत परामर्श (परम ज्ञान को प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना तथा ब्राह्मशील एवं व्रत से ही अपने को पूर्णता प्राप्त समझना

कामराग (भोगों में अनुराग), रूपराग (प्रकाशयुक्त देवताओं के भोगों में अनुराग), अरूपराग (रूप विहीन देवताओं के भोगों में अनुराग), प्रतिघ (प्रतिहिंसा), मान (अभिमान), औद्धत्य (उद्धतपन) और अविद्या। प्राणी इन दसों में जब तक बँधा रहता है, तब तक जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु के चक्कर से छुटकारा नहीं पा सकता।

सम्बोध्यङ्ग=स्मृति, धर्म-विचय (धर्म-परीक्षा), वीर्य (उद्योग), प्रीति, प्रश्रब्धि (शान्ति), समाधि और उपेक्षा—ये सात सम्बोधि अर्थात् ज्ञान के अंग हैं। इन्हें सिद्ध करके ज्ञान का लाभ किया जा सकता है।

स्रोतापन्न=स्रोत को प्राप्त हुआ अर्थात् निर्वाण गामिनी नदी में पड़ा हुआ। जब कोई मनुष्य आध्यात्मिक विकास करने के मार्ग में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है, नीचे नहीं गिरता तब उस मनुष्य को स्रोतापन्न कहते हैं।

गाथा ३७० से संबंधित=पञ्च छिन्दे—पाँच संयोजन—१. सत्कायदृष्टि २. विचिकित्सा, ३. शीलव्रत परामर्श, ४. काम राग और ५. प्रतिघ।

पञ्च जहे—पाँच संयोजन १. रूपराग, २, अरूपराग, ३. मान, ४. औद्धत्य और ५. अविद्या।

पञ्च च उत्तरि भावये—पाँच की भावना करे १. श्रद्धा, २. स्मृति, ३. वीर्य, ४. समाधि और ५. प्रज्ञा।

पञ्च संगातिगो—पाँच के सम्पर्क से अलग रहे १, रूप, २. वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार और ५. विज्ञान।

—:०:—

मक्षु-

वचि-
यत्न
ना)

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रकाशन

१ रघुवंशमहाकाव्यम् प्र० सर्ग। 'चन्द्रकला' सं० हि० व्या०--शेषराजशर्मा ३--००
२ रघुवंशमहाकाव्यम्। 'विमला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्या। श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
द्वितीय ३-२५, तृतीय ३-००, ४-५ ६-००, ६-७ ६-००, १३-१४ ६--००
३ हितोपदेश : मित्रलाभ। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका--श्रीशेषराजशर्मा ६--५.
४ लघुसिद्धान्तकौमुदी। 'शिवाख्य' सं० हि० टीका--श्रीमधीश्वराचार्यशास्त्री १२--००
५ तर्कसंग्रह—पदकृत्य। हिन्दीटीकासहित--श्रीशेषराजशर्मा 'रेग्मी' ५--०.
६ कुमारसम्भव। 'विमला' संस्कृत-हिन्दीटीका--पं० श्रीकृष्णमणित्रिपाठी
१--२ सर्ग ५--५० तृ० सर्ग ३--०० प० सर्ग २--२५ पञ्चमसर्ग ३--२५
७ स्वप्नवासवदत्ता। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका--श्रीशेषराजशर्मा 'रेग्मी' १०--०.
८ नीतिशतकम्। 'विमला' संस्कृत--हिन्दीव्याख्योपेतम्--कृष्णमणित्रिपाठी ५--५.
९ छन्दोमञ्जरी। (प्रमाणिक-संस्करण)। 'सुषमा'-'सफला' संस्कृत-
हिन्दी व्याख्या युक्त। व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ८--००
१० काव्यमीमांसा। 'विमला' संस्कृत-हिन्दी टीका। १--५ अध्याय ४--५०
११ पञ्चतन्त्र। अपरीक्षितकारक। 'विमला' सं०हि०टीका। कृष्णमणित्रिपाठी ६--५.
१२ संस्कृत व्याकरणम्। (अनु० खण्ड-निबन्धखण्ड सहित)-पं० रामचन्द्रझा १५--०.
१३ सांख्यकारिका। 'सांख्यप्रकाश' सं०हि० टीका। श्रीकृष्णमणित्रिपाठी १०--.
१४ वेदान्तसार। 'भावबोधिनी' सं० हि० टीका--श्रीरामशरणत्रिपाठी ९--००
१५ मेघदूत। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका--श्रीशेषराजशर्मा 'रेग्मी' १४--००
१६ अनुवादचन्द्रिका। (सर्वांगपूर्ण संस्करण)। डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी १५--००
१७ दशरूपक। 'चन्द्रकला' हि० टीका सहित--डॉ० भोलाशंकर व्यास २०--००
१८ साहित्यदर्पण। 'शशिकला' हिन्दीटीका १-६ परि० ३५-००, ७-१० परि २०--००
१९ काव्यप्रकाश। 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका--डॉ० सत्यव्रत सिंह ४०--००
२० भट्टिमहाकाव्य। सान्वय संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहित। श्रीगोपालशास्त्री
'दर्शनकेशरी' १--४ सर्ग १०--००, ५--८ सर्ग १०--०० एवं १४--२२ १५--००
२१ नैषधमहाकाव्य। 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। श्रीशेषराजशर्मा
प्र० सर्ग ८--०० १-३ सर्ग १८--०० १-५ सर्ग २७--०० १-९ सर्ग ४५
२२ किरातार्जुनीयम्। 'विजया' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, परीक्षोपयोगि संस्करण
डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी। द्वि० सर्ग २--२५ १--६ सर्ग ९--०
२३ दशकुमार-पूर्वपीठिका। परीक्षोपयोगि 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित
व्याख्याकार—पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी ६--०
२४ प्रस्तावरत्नाकरः। परीक्षोपयोगि निबन्धसंग्रह। डॉ० ब्रह्मानन्दत्रिपाठी ७--५
२५ सवृत्तिरष्टाध्यायीसूत्रपाठः। सम्पा० श्रीगोपालशास्त्री 'दर्शनकेशरी' ६--०